आन उपाउ न देखिअ देवा। मानत रामु सुसेवक सेवा॥७॥
हिय सपेम सुमिरहु सब भरतहि। निज गुन सील राम बस करतहि॥८॥
दो०—सुनि सुर मत सुरगुर कहेउ भल तुम्हार बड़ भागु।
सकल सुमंगल मूल जग भरत चरन अनुरागु॥२६५॥

शब्दार्थ—**लगि लगि कान**=कानसे लगकर। कान लगना मुहावरा है=चुपके-चुपके बात कहना, कनफूसी करना। **देखिअ**=दिखायी पड़ना। मानना=मंजूर या स्वीकृत करना, आदर करना, ध्यानमें लाना, खयाल करना, स्वीकृत करके अनुकूल कार्य करना, यथा—'***सेवक सेवकाई जानि जानकीस मानै कानि सानकूल सूल पानि*.......' (बाहुक)। **करतहि**=करनेवाले।

अर्थ—देवतालोग माथा पीटकर कानोंसे लग-लगकर (वे परस्पर) कहते हैं कि अब देवताओंका काम श्रीभरतजीके हाथ है॥६॥ हे देवताओ! दूसरा उपाय नहीं दिखायी देता। श्रीरामजी अपने सेवककी सेवाका खयाल करते हैं।* अर्थात् भक्तकी सेवा जो कोई करे तो उसपर प्रसन्न होते हैं, उस सेवाका मान करते हैं॥७॥ एतावता अपने गुण और शील स्वभावसे रामचन्द्रजीको अपने वशमें कर लेनेवाले भरतजीका ही स्मरण सब कोई (अपने-अपने) हृदयमें प्रेमपूर्वक करो॥८॥ देवताओंका सम्मत सुनकर देवगुरु बृहस्पतिजीने कहा—अच्छा किया तुम्हारे बड़े भाग्य हैं। श्रीभरतजीके चरणोंका प्रेम संसारमें सम्पूर्ण उत्तम मङ्गलोंका मूल है॥२६५॥

नोट—१ '*लगि लगि कान कहहिं धुनि माथा।*..........' इति।—भक्तके वश हैं; इसे दो उदाहरणोंसे दृढ़ निश्चय कर लिया कि श्रीरामजी हमारे लिये अपनेसे कुछ नहीं कर सकते, भरतजी ही कृपा करें तब वे मानेंगे, अन्यथा नहीं। माथा पीटकर अपना अभाग्य जनाते हैं। (पु० रा० कु०) पुनः माथा क्या पीटते हैं मानो अभाग्यकी रेखाएँ मिटानेका यत्न करते हैं। (रा० प्र०) कानसे लगकर बात करते हैं; क्योंकि स्वार्थकी बात है, विघ्नका भय है। (पु० रा० कु०) अथवा, शत्रुवर्गका कोई सुनकर भरतजीको हमारी कुचाल बता न दे, या रावणको यह खबर न दे दे कि भरत रामको लौटाये लिये जाते थे, देवता ही उनको इधर फेर लाये जिसे सुनकर वह और भी कष्ट देगा। (पं०, रा० प्र०)

वि० त्रि०—कानमें कहते हैं, जिसमें गुरुजी न सुन लें, क्योंकि उन्हींकी समझकर सब आक्षेप करते हैं कि भरत-रामका मिलन देखकर ही हमारा कलेजा धड़का कि जिसपर इतना प्रेम है, उसका अनुरोध क्यों नहीं मानेंगे? तब गुरुजी लगे समझाने कि तुम लोगोंका काम रामजीके हाथमें है, भरत तो आज्ञाकारी हैं, जो रामजी कहेंगे वही करेंगे। पर बात उलटी हुई। रामजीने कह दिया कि '***भरत कहहिं सोइ किये भलाई***' सो अब देखिये देवताओंका काम भरतजीके हाथ आ गया है। वे रामजीको बिना लिवा गये कैसे मानेंगे।

कानमें कही जानेवाली बात इतनी ही थी। इसके बाद 'देवा' सम्बोधनसे स्पष्ट है कि अपने मनोगत भावका प्रकाश कर रहे हैं।

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—(क) किस बातका भय है जो कानोंसे लग-लगकर माथा पीट-पीटकर कहते हैं? (उत्तर)—पहले '***राम सरन सब गे मन माहीं***' अब भरतकी शरण होना चाहते हैं और कहते हैं कि '***अब सुरकाज भरत के हाथा***' अर्थात् अब काज रामके हाथ नहीं है, ऐसा कहते हुए रामजीके उदास

* 'सुसेवककी सेवाको ही मानते हैं अर्थात् दूसरेकी बात सुनते ही नहीं' ऐसा अर्थ कुछ लोगोंने किया है। पर यहाँ प्रसंगानुकूल पूर्वापर विचार करनेसे यह अर्थ विशेष सङ्गत नहीं जान पड़ता। आगे गुरु बृहस्पतिजीके वचनोंसे यह बात स्पष्ट सिद्ध है—'सीतापति सेवक सेवकाई। कामधेनु.......।' और पूर्व भी कहा है 'मानत सुख सेवक सेवकाई'—२१९ (२)। वही भाव, अर्थ और शब्द यहाँ भी हैं। पाँड़ेजीने अर्थ किया है कि 'सेवककी सेवा करनेसे राम अपनी सेवा मान लेते हैं।' यह प्रसंगानुकूल है।

होनेकी आशंका मनमें करते हैं। (ख)—*'आन उपाउ न देखिअ देवा'* अर्थात् रामशरण ही उपायोंकी हद है, जब उनकी शरण लेनेसे भी कार्य सिद्ध होता नहीं देख पड़ता तब और क्या उपाय हो सकता है?

टिप्पणी—२ *'हिय सपेम सुमिरहु सब भरतहि।'*······' इति। यह निर्णय किया कि भरतजीसे ही काम हमारा होगा, दूसरा और कोई उपाय नहीं; अतएव सब उन्हींका स्मरण करो। *'बस करतहिं'* से जनाया कि सहज ही उनके वश हैं, उन्हें कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। 'सप्रेम' स्मरण करो जिसमें शीघ्र प्रसन्न हों। *'सुमिरहु'* अर्थात् जैसे मन्त्रका जप होता है

नोट—२ *'सकल सुमंगल मूल जग भरत चरन अनुरागु'* इति। भाव कि ये जगत्के भरण-पोषण करनेवाले हैं, अतः अवश्य मङ्गल होगा (पं०)।

सीतापति सेवक सेवकाई। कामधेनु सय सरिस सुहाई॥१॥
भरत भगति तुम्हरें मन आई। तजहु सोचु बिधि बात बनाई॥२॥
देखु देवपति भरत प्रभाऊ। सहज सुभायँ बिबस रघुराऊ॥३॥
मन थिर करहु देव डरु नाहीं। भरतहिं जानि राम परिछाहीं॥४॥
सुनि सुरगुर सुर संमत सोचू। अंतरजामी प्रभुहि सकोचू॥५॥

शब्दार्थ—सय (शत)=सौ। 'भक्ति आई'=भक्तिभाव उत्पन्न हुआ। बात बनाना मुहावरा है। बात सँवारना, काम बनाना, कार्य या प्रयोजन सिद्ध कर देना, संयोग या परिस्थितिको अनुकूल कर देना, यथा—*'मोरि बात सब बिधिहि बनाई। प्रजा पाँच कत करहु सहाई।'* (१८०।८) 'विवश' ☞'वि' उपसर्ग शब्दोंके पहले लगकर कई प्रकारके अर्थ देता है। १—विशेष; जैसे, विवश, विकराल, विहीन। २—वैरूप्य, जैसे विविध। ३—निषेध या वैपरीत्य; जैसे विक्रय, विपक्षी, विकच्छ। ४—दो; जैसे, विलोचन। थिर=स्थिर, शान्त।

अर्थ—श्रीसीतापतिके सेवककी सेवा सैकड़ों उत्तम कामधेनुओंके समान सुन्दर है॥१॥ तुम्हारे मनमें भरतजीकी भक्ति आयी है तो अब सोच छोड़ दो, विधाताने बात बना दी स्थिति तुम्हारे अनुकूल कर दी॥२॥ हे देवपति! देखो भरतके प्रभावको! उनके सहज स्वभावसे रघुराज श्रीरामजी उनके पूर्ण वशमें हैं॥३॥ हे देवताओ! भरतजीको श्रीरामचन्द्रजीकी परछाईं (प्रतिबिम्ब, प्रतिरूप) जानकर मनको शान्त करो, डरकी बात नहीं है॥४॥ देवगुरु और देवताओंका सम्मत (राय, सलाह) सुनकर* अन्तर्यामी प्रभुको सोच और संकोच हुआ॥५॥

टिप्पणी —१ पु० रा० कु०— *'सीतापति सेवक सेवकाई।'*········' इति। दोहा २४३ देखिये। भाव यह कि भरतकी क्या, कोई भी उनका सेवक हो, उसकी सेवा सैकड़ों सुन्दर कामधेनुओंके सदृश सुन्दर है। देवताओंकी कामधेनु सुन्दर नहीं है; क्योंकि वह केवल अर्थ, धर्म, काम तीन ही फल दे सकती है और भक्तोंकी सेवासे चारों फलोंकी प्राप्ति है। यह भक्ति भी देती है। वह अनित्य फल देती है और यह नाशरहित फल देती है—(रा० प्र०)।

टिप्पणी—२ *'देखु देवपति भरत प्रभाऊ'* इति। पहली बार भरतजीमें इनकी कुबुद्धि होनेसे इनको अन्धा जाना था, यथा—*'सहसनयन बिनु लोचन जाने।'* (२१८। १) अब भरतजीमें इनकी सुबुद्धि देख इनको आँखोंवाला जाना, अतः कहा कि 'देखु······'।

टिप्पणी—३ *'सहज सुभायँ बिबस रघुराऊ'* अर्थात् इनके सहज स्वभावसे ही वश हैं, कुछ उन्हें वश करनेके लिये यत्न नहीं करना पड़ा। मनु आदिको सहस्रों वर्ष कठिन तपस्या करनी पड़ी थी तब वश हुए थे।

टिप्पणी—४ *'भरतहिं जानि राम परिछाहीं'*······' इति। मनुष्यकी परिछाहीं उसके देहके अधीन है। जैसा

---

* १—कुछ लोग अर्थ करते हैं—'सुरगुर और देवताओंका सोच और सम्मत सुनकर।' २—'सुरगन सहित सभय सुरराजू' से लेकर 'निज गुन सील राम बस करतहिं' तक देवताओंका सोच है और 'सुनि सुरमत सुरगुरु कहेउ' से यहाँतक गुरु सम्मत।

वह करे, वैसा ही परिछाहीं करेगी। वैसे ही भरत रामजीके अधीन हैं। यथा—*'जिमि पुरुषहिं अनुसर परिछाहीं।'* (१४१।६) प्रतिबिम्ब बिम्बसे भिन्न और कुछ नहीं कर सकता। १४१ (६) देखिये।

प० प० प्र०—'परिछाहीं' देहके अधीन रहती है। और श्रीरामजी तो भरतजीके सहज स्वभावके विवश हैं। अतः यह अर्थ करना उचित होगा कि 'रामजी भरतजीकी परिछाहींके समान हैं।' भागवतका वचन भी देखिये—**'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।'** भरतजीको रामजीकी परिछाहीं समझनेसे भगवान्‌की भक्तपराधीनता कहाँ रही, भक्त ही भगवत्पराधीन ठहरेगा?

टिप्पणी—५ पु० रा० कु०—*'अंतरजामी प्रभुहि सकोचू।'* (क) अन्तर्यामी हैं, इससे हृदयका सम्मत सुन और जान लिया, वे कान लग-लगकर कहते थे तो भी सुन लिया, अतः संकोच है। (ख) संकोच कि भरतके कहनेपर लौटें तो देवताओंका मन टूटता है और देवताओंके मनकी करें तो भरतका मन टूटता है, दोनोंका काम कैसे बने?

वि० त्रि०—देवताओंके सोचसे अन्तर्यामी प्रभुको संकोच हुआ यद्यपि यह बातचीत आकाशमें हो रही थी, पर सरकार सुन रहे थे, इसीलिये गोसाईंजीने अन्तर्यामी विशेषण दिया। इसके पहिले जब देवता लोगोंने चित्रकूटमें आकर दुःसह दुःख सुनाया, यथा—*'करि बिनती दुख दुसह सुनाए। हरषित निज निज सदन सिधाए॥'* तब सरकारने भरोसा दिया कि अब मैं वनमें आ गया, यज्ञादिकमें बाधा नहीं होने पावेगी, यज्ञभाग आप लोगोंको मिलना आरम्भ हो जायगा, सो आजकी मेरी प्रतिज्ञा सुनकर विचारे कि ये डर गये हैं। इसी बातका सरकारको संकोच हुआ।

निज सिर भारु भरत जियँ जाना। करत कोटि बिधि उर अनुमाना॥६॥
करि बिचारु मन दीन्ही ठीका। राम रजायस आपन नीका॥७॥
निज पन तजि राखेउ पन मोरा। छोहु सनेहु कीन्ह नहिं थोरा॥८॥

दो०—कीन्ह अनुग्रह अमित अति सब बिधि सीतानाथ।
करि प्रनामु बोले भरतु जोरि जलज जुग हाथ॥२६६॥

शब्दार्थ—**भारु**=बोझ, दारमदार, उत्तरदायित्व। **अनुमान**=विचार। **दीन्हीं ठीका**—ठीक देना मुहावरा है। =मनमें पक्का करना, दृढ़ निश्चय करना, यथा—*'नीके ठीक दई तुलसी अवलंब बड़ी उर आखर दूकी॥'* (क०) इस मुहावरेमें ठीक शब्द आगे बात-शब्द लुप्त मानकर उसका प्रयोग स्त्रीलिङ्गमें होता है। **छोह**=ममत्व लिये हुए अनुग्रह या कृपा।

अर्थ— श्रीभरतजीने अपने मनमें सारा भार अपने ही सिर देखा। करोड़ों प्रकारके विचार मनमें करते हैं॥६॥ भलीभाँति विचार करके उन्होंने मनमें यह दृढ़ निश्चय किया कि श्रीरामजीकी आज्ञामें ही अपना सर्वविध कल्याण है॥७॥ (प्रभुने) अपना प्रण छोड़कर मेरा प्रण रखा, यह कुछ थोड़ा छोह और प्रेम नहीं किया है। अर्थात् बहुत प्रेम और कृपा की॥८॥ श्रीसीतानाथ रामजीने सब प्रकारसे अत्यन्त कृपा की है जो अपरिमित है जिसका अंदाजा ही नहीं हो सकता। इसके बाद दोनों करकमलोंको जोड़कर और प्रणाम करके श्रीभरतजी बोले॥२६६॥

नोट—१ *'सुरगन सहित सभय सुरराजू'* (२६५।१) से *'भरतहि जानि राम परिछाहीं'* (२६।५) तक देवताओंका भय और सम्मत कहा। *'सुनि सुरगुर सुर संमत सोचू'* उपसंहार है। दरबारका प्रसङ्ग *'मन प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु·······'* इस दोहेपर छोड़ा था; अब वही प्रसङ्ग यहाँ मिलाते हैं।

नोट—२ *'निज सिर भारु भरत जिय जाना।······'* इति। (क) हमारे ही सिर सबका भार है, *'भूमि रह राउरि राखी'* यह पृथ्वीकी रक्षाका भार, *'करउँ काह असमंजस जी के'* यह प्रभुके असमंजसकी निवृत्तिका भार, *'राखेउ राउ सत्य मोहि त्यागी·····तासु बचन मेटत मन सोचू'* यह पिताके धर्मकी रक्षाका भार, *'तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू'* यह सेवकके द्वारा स्वामीके संकोचनिवृत्तिका भार, *'तापर गुरु मोहि*

आयसु दीन्हा' यह गुरु-आज्ञाकी अवज्ञाकी निवृत्तिका भार और *'सत्यसंध रघुबर'* यह उनकी सत्यप्रतिज्ञाकी रक्षाका भार एवं अवधपुरवासी, परिजन, प्रजा सबको सुख पहुँचाने और सबके दुःखकी निवृत्तिका भार—गुरुने रामजीपर छोड़ा कि आप भरतजीकी सुनकर, फिर विचारकर उनकी रुचि रखकर जो उचित हो वह कीजिये; श्रीरामजीने भरतपर छोड़ा, यथा—*'भरत कहहिं सोइ किये भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई॥'* और पुनः यह कहा—*'मन प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करउँ सोइ आजु',* अर्थात् तुम ही जो कहो वही करूँ। क्या होना चाहिये? श्रीरामजीसे लौटनेको कहें, या उनके बदले अपने लिये वन जानेको कहें जैसा गुरुजीसे सम्मत करके यहाँ आये थे, पिताकी आज्ञा मिटावें या रखें, इत्यादि, जो कुछ प्रभुने अपने भाषणमें कहा है सबके उत्तर और सँभालका भार अपने ही सिर देखा। मुझको ही कहना होगा दूसरेको नहीं, चाहे जो कुछ कहूँ—यही अपने सिर भारका अभिप्राय है। (ख) *'करत कोटि बिधि मन अनुमाना'* इति। अभीतक केवल स्वार्थ सोचकर आये थे, अब अपने ऊपर सबकी जिम्मेदारी आ गयी। पूर्व जितनी बातें लिखी गयी हैं उन सबपर ध्यान रखना बहुत जरूरी देख पड़ा। अतः अनेक प्रकारसे बुद्धिसे विचार कर रहे हैं कि क्या करनेको कहा जाय। सब पक्षोंको विचारकर यह मनमें निश्चय किया कि *'राम रजायसु आपन नीका।'* अर्थात् उन्हींपर छोड़ना, उनकी ही आज्ञा लेना, जो वे कहें वही करना, उनको आज्ञा न देना, यही सर्वोत्तम है, इसीमें सबका श्रेय है। 'रजायस' से जनाया कि वे राजा हैं तब आज्ञा उनकी ही होनी चाहिये।—[☞स्मरण रहे कि यहाँ भरतजीने भी वही सिद्धान्त निश्चय किया जो श्रीवसिष्ठजीने प्रथम ही (भरत-वसिष्ठ-गोष्ठीमें) अपना और सबका सिद्धान्त कहा था—*'करि बिचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबही के॥ राखे राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ।'* (२५४) विचार करनेपर वही इन्होंने भी निश्चय किया। यह सबको गाँठ बाँध लेना चाहिये।]

नोट—३ *'निज पन तजि राखेउ पन मोरा.......'* इति। यह वही विचारका सिलसिला चला जा रहा है। अपनी प्रतिज्ञा—जो देवताओंसे, कैकेयीसे, पितासे, माता कौसल्यासे, परिजन, पुरजन, निषाद आदिसे कहते आये हैं कि १४ वर्ष वनवास करके तब लौटूँगा, इत्यादि—को छोड़ा—*'कहहु करउँ सोइ'* मैं लौटाने आया था, वह भी कहूँ तो करनेको तैयार हैं—बस यह कृपा और प्रेमकी हद है। तो अब उचित है कि मैं अपना प्रण उनके लिये छोड़ दूँ। उद्भव-स्थिति-संहारकारिणी-सर्वश्रेयस्करी ऐसी सीताजीके स्वामी होकर भी इतनी अतिशय कृपा की; अतएव यही उत्तम है कि उन्हींकी आज्ञा पालूँ। *'सब बिधि'* यह कि हमको निर्दोष करार दिया, त्रैलोक्यमें हमको यश दिया, हमारा दुलार रखा इत्यादि। यहाँतक मनमें विचार किया। अब आप प्रभुसे कहते हैं।

भरत-भाषण

कहउँ कहावउँ का अब स्वामी। कृपा अंबुनिधि अंतरजामी॥ १॥
गुर प्रसन्न साहिब अनुकूला। मिटी मलिन मन कलपित सूला॥ २॥
अपडर डरेउँ न सोच समूलें। रबिहि न दोसु देव दिसि भूलें॥ ३॥
मोर अभागु मातु कुटिलाई। बिधि गति बिषम काल कठिनाई॥ ४॥
पाउ रोपि सब मिलि मोहि घाला। प्रनतपाल पन आपन पाला॥ ५॥

शब्दार्थ—**अंबुनिधि**=जलका खजाना वा अधिष्ठान=समुद्र। **समूलें**=समूल—जिसमें कुछ मूल कारण या हेतु हो; कारणसहित। **रोपि**=जमाकर, दृढ़ताके साथ रखकर जिसमें टाले न टले। **पाँव रोपना**=प्रण या प्रतिज्ञा करना, अड़ जाना। **घालना**=बिगाड़ना, नाश करना, नष्ट करना। यथा—*'चित्रकेतु कर घर उन्ह घाला।'* **विषम**=जो एक-सी न हो, जिसकी मीमांसा सहजमें न हो सके, कठिन, विकट।

अर्थ—हे स्वामी! हे कृपासिन्धु! हे अन्तर्यामी! अब मैं क्या कहूँ और क्या कहलवाऊँ॥ १॥ गुरुजीको

प्रसन्न और स्वामीको अनुकूल (अपने पक्षमें, अपने मुआफिक) देखकर मेरे मलिन मनकी गढ़ी हुई शूल (अर्थात् जो यथार्थ न थी, मनने व्यर्थ ही रच ली थी,) मिट गयी॥ २॥ मैं अपने झूठे ही डरसे डर गया था, सोचकी जड़ ही न थी। हे देव! दिशा भूल जायँ तो सूर्यका दोष नहीं अर्थात् भूला मैं था, यह मेरा भ्रम था, आपका दोष इसमें कदापि नहीं है॥ ३॥ मेरा अभाग्य, माताकी कुटिलता, विधाताकी विकट चाल और कालकी कठिनता॥ ४॥ इन सबोंने मिलकर प्रतिज्ञा करके मुझे नष्ट कर डाला था, पर शरणागतके रक्षक आपने अपनी प्रतिज्ञाका पालन किया (अर्थात् *'मम पन सरनागत भयहारी'* इस प्रणको आपने पूरा कर दिखाया, मेरे भयको हर लिया)॥ ५॥

नोट—१ 'स्वामी, अन्तर्यामी, कृपा-अम्बुनिधि' से क्या कहना और कहलवाना। आप स्वामी हैं, आपकी ही आज्ञा पालन करना सेवकका धर्म है, सेवकका कुछ कहना उचित नहीं, न कहलाना उचित है, जो वे स्वतः कहें वही सेवकका कर्तव्य है। पुनः, 'हे स्वामी!' यह बोलनेकी रीति है। अन्तर्यामी हृदयकी जानता है उससे कहनेकी आवश्यकता नहीं। कृपासिन्धु कृपा करेंगे ही, उनसे कुछ कहनेका प्रयोजन नहीं, जिसमें हमारा हित होगा वे वही करेंगे।

नोट—२ *'गुर प्रसन्न साहिब अनुकूला।·····'* इति। शूल मिटी। कौन शूल? यह प्रथम ही भाषणमें गिना आये हैं, यथा—*'भूपति मरन पेम पनु राखी।···सो सुनि समुझि सहिउँ सब सूला।···जियत जीव जड़ सबइ सहाई।'* (२६२। १—७) वहाँ शूलकी निवृत्ति चाही थी, यहाँ उसकी निवृत्ति दिखायी। (पु० रा० कु०)

नोट—३ *'अपडर डरेउँ न सोच समूलें।·······'* इति। मूल यहाँ प्रभु हैं। उनकी ओरसे डरनेकी बात न थी। अपने ही डरसे मैं डरा। सोचा था कि *'रामलखनसिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ॥', 'मातु मते महुँ मानि मोहिं जो कछु करहिं सो थोर।······।'* (२३३) सूर्य तो सदा पूर्वहीमें उदय होता है किसीको दिशाका भ्रम हो जाय और वह कहे कि पश्चिममें उदय हुए तो उसमें सूर्यका दोष क्या? दोष उसकी ही समझके भ्रमका है, यथा—*'जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उयेउ दिनेसा॥'* (उ० ७३) भाव यह कि आप तो सदा कृपा ही करते हैं, हमारे ही चित्तमें यह विकार उत्पन्न हो गया था कि आप अप्रसन्न होंगे, हमारा त्याग अवश्य करेंगे।

नोट—४ *'मोर अभागु मातु कुटिलाई।·······'* इति। (क) 'अभाग्यका उदय हुआ* इससे आपका वियोग हुआ जिससे हमको शूल हुआ इत्यादि। माताकी कुटिलता कि हठकर वनवास दिया। विधिगति यह कि हमारे अशुभ कर्मोंका उदय हुआ और कालकी कठिनाई कि जैसे विशाखापर केतुका उदय होता तब अयोध्यामें उत्पात होता।' (वै०)

(ख) ये चारों बातें पूर्व भाषणमें भरतजीने कही हैं। क्रमसे यथा—*'सपनेहु दोस कलेसु न काहू। मोर अभाग उदधि अवगाहू॥ बिनु समुझे निज अघ परिपाकू', 'जननी कुमति जगत सब साखी', 'बिधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीच जननी मिस पारा',* और *'कीन्ह मातु मिस काल कुचाली।'*

भरतजीका दूसरा भाषण

मा० हं०—भरतजीका जो मुख्य भाव उनके इस भाषणमें प्रतिबिम्बित है वह यह है—*'निज पन तजि राखेउ पन मोरा। छोह सनेह कीन्ह नहिं थोरा॥ कीन्ह अनुग्रह अमित अति सब बिधि सीतानाथ।'* भरतजीको कहीं भी देखिये उनकी विशेषता जो हार्दिक कृतज्ञता है वह उनकी छायाके सदृश उनके साथ-ही-साथ दिखायी देगी। उनके सभी व्यवहार मृदु और मनोहर होनेका कारण उनकी केवल यह विशेषता ही है, और इसी एक विशेषताके बलसे वे रामजीके कथनानुसार, त्रैलोक्यविजयी, त्रैलोक्यपावन, त्रैलोक्यगुरु हुए हैं।

उपर्युक्त सूचनाको स्मरण रखते हुए अब भरतजीका भाषण पढ़िये और तत्काल ही देखिये कि भरतजीके

* 'पत्रं नैव यदा करीरविटपे दोषो वसन्तस्य किं नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम्। धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणं यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः॥' (भर्तृहरिशतक) अर्थ स्पष्ट है कि भाग्यको मिटानेमें कोई समर्थ नहीं।

प्रेमका पूर कैसा चढ़ा-बढ़ा फैलता जाता है।

२—गोस्वामीजीके रामजी और भरतजीके सदृश समानशीलवाली जोड़ी हमने अन्य रामायणोंमें ढूँढ़नेका प्रयत्न किया, परंतु हर जगह निराशा ही होती गयी। अन्तमें हमें यही प्राञ्जलतासे कहना पड़ता है कि गोसाईंजीकी इस राम-भरतजोड़ीके कारण ही इस रामायणका अयोध्याकाण्ड विशेषतासे बोधक हुआ है। और रामायणोंने तो हमारी निराशा ही की, परंतु केवल एक भागवतने हमारी आशा पूर्ण की। उसने श्रीकृष्ण और भीष्मदेवकी जोड़ी हमें दिखला दी। यहाँ भरतजीने जैसे *'निज पन तजि राखेउ पन मोरा'* कहा है उसी प्रकार वहाँ पितामह भीष्मदेवजीने भी **'स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः'** कहा है।……तुलनाकी दृष्टिसे हमें यही दिखाता है कि श्रीमद्भागवतमें जैसा दशमस्कन्ध वैसा तुलसीरामायणमें यह अयोध्याकाण्ड हुआ है।

येह नइ रीति न राउरि होई। लोकहुँ बेद बिदित नहिं गोई॥६॥
जगु अनभल भल एक गोसाईं। कहिअ होइ भल कासु भलाईं॥७॥
देउ देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ॥८॥
दो०—जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समनि सब सोच।
मागत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच॥२६७॥

अर्थ—यह कुछ आपकी नयी रीति नहीं है (अर्थात् पुरानी है, सदासे चली आती है) लोक और वेद (दोनों) में प्रकट है, छिपी नहीं है॥६॥ संसार बुरा और अहित है। एक स्वामी (आप) ही भले (हित) हैं* (तब) कहिये किसकी भलाईसे भला हो सकता है॥७॥ हे देव! कल्पवृक्षके सदृश आपका स्वभाव सबको सम्मुख है, किसीको भी कभी विमुख (प्रतिकूल) नहीं†॥८॥ कल्पवृक्षको पहचानकर उसके पास जाय (तो) उसकी ही छाया सब सोचका नाश करनेवाली है। सारा संसार राजा, रंक, भले, बुरे सभी माँगते ही उससे मनोरथ पाते हैं॥२६७॥

नोट—१ *'जगु अनभल भल एक गोसाईं।……'* इति। (क) भाव कि जगत् तो अनभलरूप है, भलाई कहाँसे करे। और एक आप ही भले हैं तो आप अनभल कहाँसे करेंगे; अतएव निश्चय है कि आपकी ही भलाईसे भला होता है। (रा० प्र०) (ख) *'कहिअ होइ……'* अर्थात् ऐसा कौन है जो एक अपनी भलाईसे अनभले जगत्की भलाई करे? भाव कि ऐसे एक आप ही हैं जिससे जगत्की भलाई हो सके। (पां०) (ग) प्रथम भरतजीने कहा कि *'मोर अभाग मातु कुटिलाई। बिधि गति बिषम काल कठिनाई॥'* इन सबोंने प्रतिज्ञा करके मुझे मारना चाहा था; इनसे आपने रक्षा की, यह आपकी नयी रीति नहीं है, लोकवेदमें विदित है, उसी वचनको पुष्ट कर रहे हैं कि *'जगु अनभल भल एक गोसाईं।……'* अर्थात् जिसका सारा संसार वैरी हो जाय, उसके मित्र आप हों, तब कहिये किसकी भलाईसे भला हो सकता

*१—पंजाबीजी अर्थ करते हैं—'संसार शत्रु है। एक आप हितू हों उसका बुरा कौन कर सकता है। कहिये तो सबका भला किसकी भलाईसे हो सकता है।' यही बैजनाथजी और वीरकविजीने अर्थ लिया है।

२—एक खर्रेमें यह अर्थ और भाव दिया है—'जगत्का भला या अनभला एक आपसे ही है। आपकी भलाईसे भला होता है, आपके अनभल होनेसे बुरा होता है। हे गोसाईं! कहिये किसकी भलाईसे भला हो सकता है?' अथवा, प्रश्न है कि 'कहिये जगत्के भलेसे भला है; या आपके भलेसे भला है?'

३—'सारा जगत् बुरा (करनेवाला) हो; किन्तु हे स्वामी! केवल एक आप ही भले हों, तो फिर कहिये……'—(मानसाङ्क)

४—'यह जग अनभल है; परंतु एक उसके मालिकके भला होनेसे उसकी भलाई है।' (नं० प०)

†दूसरा अर्थ—आपका स्वभाव कल्पवृक्षके समान है, किसीको भी कभी न सम्मुख ही है न विमुख। अर्थात् कोई शत्रु-मित्र नहीं, सब उसको समान हैं वैसे ही आपकी सबपर समान दृष्टि है। आप एकरस हैं। (पं० रा० कु०)

है अर्थात् जग अनभला है, वहाँसे तो भलाई होगी नहीं; आप भले हैं अतः आपसे ही भलाई होगी। (पं० रा० कु०) पुनः भाव यह कि अभाग्य आदि चारहीकी कौन कहे यदि सारा जगत् शत्रु हो जाय और आप ही एक हितू रहें तो आपकी भलाईसे ही भला होगा, यथा—'*रावरी भलाई सबही की भली भई।'.......बिगरी बनावे कृपानिधि की कृपा नई॥*' (वि० २५२) जगत्की अनभलाईसे अनभला नहीं होनेका। (पं० रा० कु०) (ङ) संसार अनित्य है, दुःखमय है, अतः बुरा है। एकमात्र आप (राम ब्रह्म) भले हैं, इसमें यदि भलाई दिखायी पड़े तो वह भलाई आपकी है। इसीलिये भगवद्गीतामें कहा गया है कि '**अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्**', लोक अनित्य है, दुःखमय है, इसे पाकर मुझे भजो। इसका भाव ही यह है कि भलाई भगवान्से ही प्राप्त होगी। बालूसे तेल कैसे निकलेगा? संसार दुःखमय, इससे सुख होगा कैसे? अतः आगे चलकर सरकारको कल्पवृक्षसे उपमित करेंगे। (वि० त्रि०)

नोट—२ '*देउ देवतरु सरिस सुभाऊ।*.......' इति। (क) सबको सम्मुख हो, विमुख किसीको नहीं।* यथा—'*तुलसी प्रभु सुभाउ सुरतरु को सो ज्यों दरपनमुख कांति॥*' (वि० २३३) (पां०, पु० रा० कु०) (ख) जैसा फल शत्रुको वैसा ही मित्रको, उसकी छायामें जाय भर। वैसे ही आप हित-अहितका विचार नहीं करते—'*कोटि बिप्र बध लागहि जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू॥ सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥*' (५। ४४। १-२) '*बैरिउ राम बड़ाई करहीं।*' (२००। ७) '*अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा।*' (१८३। ६) निशाचरोंको भी सद्गति देते हैं, यथा—'*उमा राम मृदुचित करुनाकर। बयर भाव सुमिरत मोहि निसिचर॥ देहिं परम गति सो जिय जानी। अस कृपाल को कहहु भवानी॥*' (६। ४४। ४-५)

प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि इसमें वही भाव है जो '*समदरसी मोहि कह सब कोऊ*', '*तुम्ह समरूप ब्रह्म अबिनासी। सदा एक रस सहज उदासी॥*' (६। १०९) इन वाक्योंमें है। '*राउ रंक भल पोच*' से भी यही भाव सिद्ध होता है कि भगवान् किसीको सम्मुख या विमुख नहीं हैं। जो उनके सम्मुख होगा उसको सम्मुख (अनुकूल) हैं, विमुखके लिये विमुख हैं। यथा—'*तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥*' कल्पवृक्षके तले जाकर यदि कोई यह संकल्प करे कि मुझको पिशाच लग जाय तो उसको वह भी होगा। जैसा भाव वैसा देव।

नोट—३ '*पहिचानि तरु*' का भाव कि जबतक उसका स्वरूप जानेगा नहीं तबतक विश्वास ही न होगा और न पास जायगा। यथा—'*जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥*' जानेगा तब जायेगा, जाते ही शोक दूर होगा। देखिये, विभीषणजी कहते हैं—'*श्रवन सुजस सुनि आयउँ प्रभु भंजन भवभीर। त्राहि*.......॥' (५। ४५) अर्थात् पहले हनुमान्जीसे सुना कि आप ऐसे हैं, उनका प्रभाव देख आपपर विश्वास हुआ, तब आया हूँ।

लखि सब बिधि गुर स्वामि सनेहू। मिटेउ छोभु नहिं मन संदेहू॥ १॥
अब करुनाकर कीजिअ सोई। जन हित प्रभु चित छोभु न होई॥ २॥
जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥ ३॥
सेवक हित साहिब सेवकाई। करइ सकल सुख लोभ बिहाई॥ ४॥

---

* सत्योपाख्यानमें कहा है 'येषां तु तादृशी बुद्धिः फलदाता तथैव सा। नहि विषमता तस्य कल्पवृक्षोपमो हरिः॥' अर्थात् जिसकी जैसी बुद्धि है वैसा ही उसको फल देनेवाले हैं, उनमें विषमता नहीं है, हरि कल्पवृक्षके समान हैं।

'कौशल्यालसदालवालजनितः सीतालतालिङ्गितः सिक्तः पंक्तिरथेन सोदरमहाशाखाभिरत्युन्नतः। रक्षस्तीक्ष्णनिदाघपाटनपटुः छायाश्रितानन्दकृद्विद्वद्वाञ्छितसत्फलानि फलतु श्रीरामकल्पद्रुमः॥' इति हनुमन्नाटके टीकायाम्। (वंदनपाठकजी) अर्थात् श्रीकौसल्यारूपी थाल्हामें प्रकट हुए जो श्रीसीतारूपी लतासे परिवेष्टित हैं, श्रीदशरथजीने जिसे सींचा, श्रीभरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्नजी जिसके बहुत बड़े स्कन्ध (मोटी-मोटी शाखाएँ) हैं, राक्षसरूपी, घोर घामका सर्वथा नाश करके आश्रितोंको आनन्द देनेवाले श्रीरामरूप कल्पवृक्ष विद्वानोंकी सत्कामनापूर्तिरूप उत्तम फलोंको सदैव फलते रहते हैं।

शब्दार्थ—संकोचना=संकुचित करना, संकोचमें डालना।

अर्थ—सब प्रकारसे गुरु और स्वामीका स्नेह (अपने ऊपर) देखकर मनका क्षोभ (ग्लानि, व्याकुलता, चंचलता, उद्वेग) मिट गया। मनमें संदेह नहीं रह गया॥ १॥ हे करुणाकी खानि! अब वही कीजिये, जिससे (दासका भला हो और) दासके लिये प्रभुके चित्तमें क्षोभ न हो॥ २॥ जो सेवक स्वामीको संकोचमें डालकर अपना भला चाहे उसकी बुद्धि नीच है॥ ३॥ सेवकका हित तो यही है कि सम्पूर्ण सुखों और लोभोंको छोड़कर स्वामीकी सेवा करे॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'लखि सब बिधि गुर स्वामि सनेहू।'*— गुरुका स्नेह *'कृपासिंधु प्रिय बंधु सन कहहु हृदय कै बात'* इन वचनोंसे प्रकट है और प्रभुका स्नेह *'निज पन तजि राखेउ पन मोरा'* इनसे।

टिप्पणी—२ *'जन हित प्रभु चित छोभु न होई।'* भाव कि मेरे मनका क्षोभ दूर हो गया, ग्लानि जाती रही, प्रभुके विषयमें संदेह कि मुझपर स्नेह है या जाता रहा, वह सब निवृत्त हो गया। मेरे मनमें क्षोभ नहीं रह गया तो अब आपके मनमें क्षोभ न आने पावे वही करना उचित है, क्योंकि हमारा क्षोभ मिटाकर आपका हृदय क्षुब्ध हो जाय तो बात क्या बनी? संदेह ऊपर भी दिखा आये हैं कि नाम सुनकर चल न दें, इत्यादि। क्यों चाहते हैं कि क्षोभ न हो उसे आगे कहते हैं—*'जौं'*......'। [यहाँ 'जन' के दो अर्थ हैं। 'मुझे दासका' और 'अवधवासी जो आपके जन हैं उनका।']

☞ *'जो सेवकु साहिबहि सँकोची'*......'—यहाँ सेवकका धर्म कहा गया। आजकल ऐसे कितने सेवक देखने-सुननेमें आते हैं?

रामेश्वरसंहितामें कहा है—**'सर्वथा श्रीगुरोः स्नेहं विलोक्य स्वामिनस्तथा। नष्टा ग्लानिर्न संदेहः करुणाकर सांप्रतम्॥ कर्तव्यं भवता येन ममाभीष्टं भवेत्प्रभोः। चित्ते चिन्ता प्राणहरा नैव स्यात्कोसलेश्वर॥'** इसमें कहा है कि जिसमें मेरा अभीष्ट सिद्ध हो और आपको चिन्ता न हो वह कीजिये। प्रभुने ऐसा ही किया भी, पाँवरी दी, इसमें अभीष्ट सिद्ध हुआ और चिन्ता भी न रही, संकोच और असमञ्जस मिट गया। (र० ब०)। परंतु 'जिनके लिये' इस अर्थसे भरतके त्यागमें विशेषता आ जाती है। अतः दोनों ही अर्थ किये गये। पाण्डेजी आदिने 'लिये' अर्थ किया है। (र० ब०) (यह संहिता मुझे नहीं मिली। श्लोक उसमें है या नहीं कहा नहीं जा सकता।)

टिप्पणी—३ *'सेवक हित'*......' इति। [(क) ऊपर यह कहकर कि *'जन हित प्रभु चित छोभु न होई'* अब बताते हैं कि जनका हित किस प्रकार हो सकता है। इससे यह भी जनाया कि दासको योग्य सेवा मिलनी चाहिये। *'सो अवलंब देव मोहि देई। अवधि पार पावउँ जेहि सेई॥'* का बीज यहाँ बो दिया गया। (प० प० प्र०)] (ख) *'करइ सकल सुख लोभ बिहाई'* अर्थात् शरीरका सुख और मनसे लोभ त्याग दे। तन-मनसे लगे और *'निज हित चहइ'* में *'चहइ'* से वचन भी जना दिया। भाव कि अपना हित चाहना अर्थात् माँगना, यह वचनका दोष है ऐसी माँग भी छोड़ दे। यह भी 'लोभ' में ही आ गया। मनसे और वचनसे लोभका त्याग करे। मन-कर्म-वचन तीनोंसे सेवा करे। लोभ, यथा—*'स्वारथ छल फल चारि बिहाई।'*

स्वारथ नाथ फिरें सबही का। किएँ रजाइ कोटि बिधि नीका॥ ५॥
येह स्वारथ परमारथ सारू। सकल सुकृत फल सुगति सिंगारू॥ ६॥
देव एक बिनती सुनि मोरी। उचित होइ तस करब बहोरी॥ ७॥
तिलक समाजु साजि सबु आना। करिअ सुफल प्रभु जौं मनु माना॥ ८॥

शब्दार्थ—**सार**=निचोड़, खुलासा, प्रधान तत्त्व। **सिंगारू**=शृङ्गार, जिससे किसी चीजकी शोभा बढ़ती है। **सुफल**=सफल, सार्थक, प्रयोजनकी सिद्धि, जो व्यर्थ न जाय। **मनु माना**=मन कबूल करे, मन स्वीकार करे, मनको अच्छा लगे, पसंद आवे, रुचे या भावे। प्रथम **'उचित होइ'** और यहाँ **'मनु माना'** देकर एक-सा अर्थ जनाया।

अर्थ—हे नाथ! आपके लौटनेमें सभीका स्वार्थ है और आपकी आज्ञा-पालन करनेमें करोड़ों प्रकार भला है॥५॥ यही स्वार्थ और परमार्थका सार है, समस्त पुण्योंका फल और सम्पूर्ण शुभ गतियोंका शृङ्गार है (अर्थात् इसके बिना उनकी शोभा नहीं)॥६॥ हे देव! मेरी एक विनती सुनकर, फिर जैसा उचित हो वैसा कीजिये॥७॥ राजतिलककी सब सामग्री सजाकर लाया हूँ। हे प्रभो! यदि आपके मनको अच्छा लगे तो उसे सुफल कीजिये। अर्थात् उचित समझिये तो राज्यतिलक कराइये जिसमें इसे यहाँ ले आनेका परिश्रम सफल हो, ये सामग्री सफल हों और सबके मनोरथ सफल हों॥८॥

नोट—१ *'स्वारथ नाथ फिरें सबही का।'.......'* इति। (क) *'नाथ'* सम्बोधन देकर जनाया कि सारी अयोध्या अनाथ हो गयी है। आपके लौटनेसे सब सनाथ हो जायँगे। वाल्मी० २।१०१ में जो भरतजीने कहा है कि आप आज ही अपना अभिषेक करायें। सारी प्रजा और सब विधवा माताएँ यहाँ आयी हैं। आप राज्याभिषेक कराके उनका तथा सब मित्रोंके मनोरथ पूर्ण करें। आपको स्वामी पाकर राज्यकी भूमि अविधवा हो जिस प्रकार चन्द्रमाको पाकर शरदृऋतुकी रात्रि।—'**भवत्यविधवा भूमिः समग्रा पतिना त्वया। शशिना विमलेनेव शारदी रजनी यथा॥**' (११), यह सब भाव 'नाथ' शब्दसे जना दिया है। (ख) 'सब' अर्थात् माता, मन्त्री, परिजन, पुरजन आदि सभी अवधवासियोंका फिरनेमें स्वार्थ है, यही उनका मनोरथ है, लौटनेसे उनका स्वार्थ सिद्ध होगा। *'कोटि बिधि नीका'* अर्थात् स्वार्थ-साधन एक विधि 'नीक' है और आज्ञापालन करोड़-विधि 'नीक' है। पहलेमें एक गुण 'स्वार्थ' है और दूसरेमें कोटि गुण हैं, क्योंकि यह परमार्थ है। (पु० रा० कु०) यद्यपि भरतजीका यह आशय नहीं है, पर वचनोंसे निकलता है कि फिरनेमें अयोध्यावासियोंका ही स्वार्थ है और न फिरनेमें देव, ऋषि और निशाचर आदि 'अनेक मनुष्योंका' अर्थ सिद्ध होगा, अतः *'कोटि बिधि नीका'* है। (रा० प्र०)

नोट—२ *'येह स्वारथ परमारथ सारू.......'* इति।—अर्थात् आज्ञा स्वार्थ और परमार्थ दोनोंका सार है, समस्त धर्मोंका फलस्वरूप है और मोक्ष आदि जितनी शुभ गतियाँ हैं उन सबका शृङ्गार है। मिलान कीजिये—*'भगति सुतिय कल करन बिभूषन।'* (१।२०।६) *'संत सुमति तिय सुभग सिंगारू'* (१।३२।१) से; जो नाम और चरितके सम्बन्धमें कहा गया है। मुक्ति आदि जितनी भी सुगतियाँ हैं वे सब विधवा-सरीखी हैं यदि उनमें आज्ञापालन-धर्म नहीं रहा। किसीका मत है कि यहाँ आज्ञाको कर्म, ज्ञान और उपासना तीनोंका शृङ्गार सूचित किया है—*'सकल सुकृत फल'* यह कर्मका, 'परमारथ सार' यह ज्ञानका और 'सुगति' यह भक्तिका शृङ्गार है। तीनोंकी शोभा इससे है।

नोट—३ *'देव एक बिनती सुनि मोरी'* अर्थात् मेरी विनयमात्र है, करनेके लिये नहीं कहता हूँ केवल सुननेको कहता हूँ। जैसा उचित हो वैसा इसके लिये आज्ञा दीजिये, वा कीजिये। जो भरतने कहा था उसीको चरितार्थ भी करते जाते हैं। कैसे सफल करें यह आगे पुनः कहते हैं।

वि० त्रि०—भरतजी पदे-पदे गुरुजीके इङ्गितके अनुकूल चल रहे हैं। गुरुजीने कहा था कि *'कृपासिंधु प्रियबंधु सन कहहु हृदय कै बात'* सो इन्होंने सब हृदयकी बात कह सुनायी। सब सुननेपर जब सरकारने कहा कि *'मन प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करउँ सोइ आज।'* तब भरतजीको गुरुजीकी बात याद आयी कि *'राखे राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ।'* अतः कवि कहते हैं कि *'करि बिचार मन दीन्हीं ठीका। राम रजायसु आपन नीका॥'* अतः भरतजी 'ऐसा कीजिये' यह नहीं कहते। जो गुरुजीने रामजीको करनेको कहा था, वही कहते हैं। गुरुजीने कहा था कि *'भरत बिनय सादर सुनिअ करिअ बिचारु बहोरि। करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि॥',* सो भरतजी ठीक वैसा ही कर रहे हैं कि *'देव एक बिनती सुनि मोरी। उचित होइ तस करब बहोरी॥'* मेरी विनती सुन लीजिये, वैसा ही करनेको मैं नहीं कहता, करिये वही जो उचित हो।

दो०—सानुज पठइअ मोंहि बन कीजिअ सबहि सनाथ।
नतरु फेरिअहिं बंधु दोउ नाथ चलउँ मैं साथ॥२६८॥

नतरु जाहिं बन तीनिउँ भाई। बहुरिअ सीय सहित रघुराई॥ १॥
जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई। करुनासागर कीजिअ सोई॥ २॥

अर्थ—भाई शत्रुघ्नसहित मुझे वनमें भेजिये, सबको सनाथ कीजिये। नहीं तो, हे नाथ! दोनों भाइयोंको लौटा दीजिये, मैं साथ चलूँ॥ २६८॥ नहीं तो (यह भी स्वीकार न हो तो) हम तीनों भाई वनको जायँ और हे रघुराई! आप श्रीसीताजीके सहित लौटें॥ १॥ जिस प्रकार प्रभुका मन प्रसन्न रहे, हे करुणासागर! वही कीजिये॥ २॥

नोट—श्रीभरतजीने प्रथम तिलक-सामग्रीके सफलार्थ निवेदन किया। पर तिलक स्वीकार करनेमें पिताके वचन (वनकी आज्ञा) का उल्लङ्घन होता है, उसके निर्वाहके लिये तीन उपाय एकके बाद एक कहते हैं—(१) शत्रुघ्नसहित मुझे वनकी आज्ञा दीजिये और आप अवधका राज्य ग्रहण करके माता, परिजन, पुरजन आदि सबको सनाथ कीजिये। 'सनाथ' से जनाया कि वे सब अनाथ हो गये हैं; यथा—'*जाहु सुखेन बनहिं बलि जाऊँ। करि अनाथ जन परिजन गाऊँ॥*' (५७। ४) यह न स्वीकार हो तो (२) लक्ष्मण और शत्रुघ्नको लौटा दीजिये, मैं सेवाके लिये साथ चलूँ। यह भी न मंजूर हो तो (३) आप और सीताजी लौटें, हम तीनों भाई आपके बदले वनको जायँ। श्रीरामजीको शायद दोका वनवास ठीक न जँचे क्योंकि घरसे तीन वनको आये हैं; इसीसे यह तीसरा (alternative) प्रस्ताव रखा कि तीनके बदले इस प्रकार तीन वनमें रहेंगे।

आज्ञा तो श्रीरामजीकी है तब भरतजी अपने ऊपर वह आज्ञा ले लेनेसे पिताकी आज्ञाका पालन कैसे कहते हैं? वसिष्ठजीने प्रथम स्वयं कहा था कि '*तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिअहिं लषन सीय रघुराई॥*' (२५६। ३) यदि प्रतिनिधिरूपमें एक पुत्रके बदले दूसरे पुत्रके आज्ञापालनसे पिताकी आज्ञाका पालन न होता तो वे ऐसा कदापि न कहते। उसी प्रमाणसे भरतजी ऐसा कह रहे हैं। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि शृङ्गवेरपुरमें ऐसे ही वचन भरतने (सीयसाथरी आदि देखकर) सब माताओंसे कहे थे—'**अद्य प्रभृति भूमौ तु शयिष्येऽहं तृणेषु वा। फलमूलाशनो नित्यं जटाचीराणि धारयन्॥ तस्याहमुत्तरं कालं निवत्स्यामि सुखं वने। तत्प्रतिश्रुतिमार्यस्य नैव मिथ्या भविष्यति॥ वसन्तं भ्रातुरर्थाय शत्रुघ्नो मानुवत्स्यति। लक्ष्मणेन सहायोध्यामार्यो मे पालयिष्यति॥ प्रसाद्यमानः शिरसा मया स्वयं बहुप्रकारं यदि न प्रपत्स्यते। ततोऽनुवत्स्यामि चिराय राघवं वनेचरं नार्हति मामुपेक्षितुम्॥**' (सर्ग ८८। २६—२८, ३०) अर्थात् आजसे मैं भी पृथ्वीपर तृण बिछाकर सोया करूँगा, फल-मूलका आहार करूँगा, जटा-वल्कलवस्त्र धारण करूँगा। उनके बदले मैं अवधिभर सुख मानकर वनमें रहूँगा, इस प्रकार वनवासकी प्रतिज्ञा भी झूठी न पड़ेगी। शत्रुघ्न भी मेरे साथ वनमें रहेंगे और लक्ष्मणसहित श्रीरामजी अयोध्याकी रक्षा करेंगे।······यदि मेरी प्रार्थना न स्वीकार करेंगे तो मैं उनके साथ ही वनमें रहूँगा, मुझे वे अवश्य अपने सेवकोंमें स्थान देंगे।

वि० त्रि०—'*नतरु जाहिं······रघुराई*' इति। विनती करनेमें चार विकल्प भरतलालने सामने रखे। (१) प्रधान प्रार्थना तो यह थी कि सरकार अभिषेक स्वीकार करें; क्योंकि कैकेयीने भरतजीको राज्य और उसीके निर्विघ्नार्थ रामजीको वन माँगा था, पर जब भरतजीने राज्य स्वीकार नहीं किया तो स्वभावतः गद्दी रामजीकी हो गयी। अब विघ्नका कोई प्रश्न ही नहीं रह गया, अतः वनवासका बन्धन भी जाता रहा। मुनिजीका भी यही मत था, यथा—'*बनहि देब मुनि रामहि राजू*' तथा '*देव देव अभिषेक हित गुर अनुसासन पाइ। आनेउँ सब तीरथ सलिल तेहि कहँ काह रजाइ॥*'

यदि यह बात रामजीके मनमें न बैठे तो दूसरा विकल्प भरतजी यह सामने रखते हैं कि हम दोनों भाई अपने-अपने हिस्सेका अदला-बदला कर लें। भरतजीको चक्रवर्तीजीने अवधका राज्य दिया था, और रामजीको वनका राज्य दिया था, यथा—'*पिता दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥*' अतः मैं शत्रुघ्नके साथ वन जाऊँ और सरकार अयोध्या लौट जायँ। इस भाँति अदला-बदला हो जाय।

यदि यह विकल्प भी अस्वीकार हो तो मैं साथ चलूँ, लक्ष्मण-शत्रुघ्न घर लौट जायँ। मुझ अभागेकी बड़भागियोंमें गणना हो।

यदि सरकार यह समझते हों कि वनकी व्यवस्था मेरे बिना न सुधरेगी, यथा—*'जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू।'* तो हम तीनों भाई मिलकर सुधार लेवेंगे, सरकार सीताजीके साथ घर लौट जायँ। (आधे हविसे रामजीकी उत्पत्ति और आधेसे तीनों भाइयोंकी है, यथा—*'अर्ध भाग कौसल्यहि दीन्हा।'* इत्यादि)।

'जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई।''''''' इति।—यह अन्तिम सिद्धान्त कहा—यह पाँचवीं बात है और पूर्व चारोंके साथ भी इसे ले सकते हैं अर्थात् इनमेंसे कोई भी जो अच्छा लगे वह कीजिये अथवा इनके अतिरिक्त जिससे मन प्रसन्न रहे वह कीजिये। यह जरूरी नहीं कि इन्हें आप करें। पूर्व जो कहा था *'उचित होइ जस'* वह सबके साथ है।

देव* दीन्ह सबु मोहि अभारू। मोरें नीति न धरम बिचारू॥३॥
कहउँ बचन सब स्वारथ हेतू। रहत न आरत कें चित चेतू॥४॥
उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवकु लखि लाज लजाई॥५॥
अस मैं अवगुन उदधि अगाधू। स्वामि सनेह सराहत साधू॥६॥

शब्दार्थ—**मोहि**=मुझहीपर, मुझको। अभार=सं० आभार=बोझा, गृहस्थीका बोझ, गृह-प्रबन्धके देखभालकी जिम्मेदारी, यथा—*'चलत देत आभार सुनि वही प्रोसिनि नाह। लसी तमासेके दृगन हाँसी आँसुनि माँह'*—(बिहारी)। ☞ 'अ' उपसर्ग प्रायः निषेध सूचक है। इसका प्रयोग इन अर्थोंमें संस्कृत वैयाकरणोंने माना है। १—सादृश्य; जैसे, अब्राह्मण=ब्राह्मणके आचरणवाला अन्य वर्णका मनुष्य। २—अभाव; जैसे, अफल=फलरहित। ३—अन्यत्व; जैसे, अघट=घटसे भिन्न पट आदि। ४—अल्पता; जैसे, अनुदरी कन्या=कृशोदरी कन्या। ५—अप्राशस्त्य; जैसे, अधन=बुरा धन। ६—विरोध; जैसे, अधर्म=धर्मके विरुद्ध आचरण। इस प्रकार वीरकविजीने अभारका अर्थ कुमार किया है। जो तुम कहो वही करूँ, यह कुबोझ है। पर बाबा हरिहरप्रसादजी आदिने इसे 'आभार' का अपभ्रंश (छन्द बैठानेके लिये) मानकर ऊपर दिया हुआ अर्थ किया है। इसी प्रकार 'आशंका' का 'अशंका' प्रयुक्त हुआ है—*'तदपि असंका कीन्हिहु सोई।'* बाबू श्यामसुन्दरदासजीने *'दीन्हि सब मोहि सिर भारू'* पाठ दिया है, कहाँका है, नहीं मालूम। पु० रा० कु० का मत है कि भाषामें दीर्घका ह्रस्व कभी-कभी करके शब्द बना लिये जाते हैं जैसे आशंकासे अशंका, आश्चर्यसे अश्चर्य, और अचरज, आहारसे अहार; आकाशसे अकाश इत्यादि वैसे ही यहाँ आभारसे अभार।

प० प० प्र० स्वामीका मत है कि 'आ' ('अ') का अर्थ 'सीमा' वा 'अति' है। यथा—'**आङीषदर्थेऽभिव्याप्तौ सीमार्थ धातुयोगजे इत्यमरः।**' इस तरह अभारु=अति भार, भारकी परम सीमा। 'चेतू' सावधानता, ज्ञान, बोध, चेतनाशक्ति।

अर्थ—हे देव ! आपने सारा भार (सब जिम्मेदारी) मुझपर ही डाल दिया परन्तु मुझमें न तो नीतिका विचार (ज्ञान) है और न धर्मका ही॥३॥ सब बातें अपने स्वार्थके लिये कह रहा हूँ। आर्त्तके चित्तमें चेत नहीं रह जाता (वह नहीं विचार सकता कि क्या कहना चाहिये)॥४॥ जो स्वामीकी आज्ञा सुनकर उत्तर दे ऐसे सेवकको देखकर लज्जा भी लज्जित (झिझकती, शर्मिन्दा) हो जाती है अर्थात् वह निपट निर्लज्ज है॥५॥ मैं अवगुणोंका ऐसा अगाध (गहरा, अथाह) समुद्र हूँ पर स्वामी (मुझपर प्रेम होनेसे) प्रेमसे साधु कहकर सराहते हैं॥६॥

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—*'देव दीन्ह सब मोहि अभारू।''''* इति। [(क) *'देव'* शब्दसे वाल्मी० २।१०६ के '**अमरोपमसत्त्वस्त्वं महात्मा सत्यसंगरः। सर्वज्ञः सर्वदर्शी च बुद्धिमांश्चापि राघव॥**'(६)

* 'देवं'—(ला० सीताराम)।

का भाव जना दिया। अर्थात् आप दिव्य हैं, देवसमान हैं, सत्त्वगुणयुक्त महात्मा सत्यप्रतिज्ञ सर्वज्ञ सर्वनियन्ता और बुद्धिमान् हैं।] यहाँ आभार शब्दका अभार हो गया। आभार=बड़ा बोझा। 'आभारू' न कहकर यहाँ अभारू कहनेमें भी अभिप्राय है। भाव यह कि दिया तो आपने बड़ा भारी भार मेरे सिरपर, पर उसे छोटा समझकर मेरे सिरपर धरा है; मेरे लिये यह भार ही बहुत भारी है पर आपको छोटा जान पड़ता है। '*कहो सो करें*' यही भार है। [(ख) '*मोरें नीति न*''''' इति। 'मुझको नीति और धर्मका विचार' नहीं है अर्थात् तब मैं कैसे यह भार उठा सकता हूँ। यदि कहें कि नीति और धर्मका विचार नहीं है तो यह सब नीति और धर्म कैसे कही कि '*पठइय मोहि बन*' इत्यादि, उसपर कहते हैं कि '*रहत न आरत कें चित चेतू*' इसीसे '*कहउँ बचन सब स्वारथ हेतू।*' (रा० प्र०)।]

श्रीप्रज्ञानानन्दजीका मत है कि इन शब्दोंमें भाव वही है जो (लक्ष्मणजीके) '*धरम नीति उपदेसिय ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥ मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला। मंदर मेरु कि लेहिं मराला॥*' (७२।७,३) इन वचनोंके साथ श्रीरामजीके '*भरत हंस रबिबंस तड़ागा*' इन वचनोंको लेनेसे होता है। भाव यह कि ऐसे मरालके सिरपर 'आभार' रखना ठीक नहीं, वह उस बोझको कैसे उठा सकेगा।

टिप्पणी—२ '*उतरु देइ सुनि*''''' इति। (क) आज्ञामें उज्र करना, वा बहाना निकालना भी उत्तर देना है। प्रभुने आज्ञा दी कि '*कहहु करउँ सोइ आज*' उसपर भी मैं उत्तर देता हूँ कि '*दीन्ह सब मोहि अभारू। मोरे नीति*''''' इत्यादि। उत्तर देनेवाला सेवक हूँ; अत: '*अवगुन उदधि अगाधू*' हूँ। (ख)—यदि आज्ञासे वह आज्ञा लें जो संदेह रूपमें प्रभुने सुमन्त्रद्वारा दी थी, यथा—'*नीति न तजिय राजपदु पाए। पालेहु प्रजहि करम मन बानी।*' (१५२।३-४) तो उसपर यह उज्र करना कि '*मोरे नीति न धरम बिचारू*', यही उत्तर देना है। पर यह इस दरबार-प्रसंगसे बहुत दूर पड़ता है।

* 'स्वामि सनेह सराहत साधू'*

इसके कई प्रकारसे अर्थ लोगोंने किये हैं। १—स्वामी स्नेहसे सराहते हैं कि 'साधु हैं।' (रा० प्र०) २—स्वामी मेरे प्रेमकी बड़ाई सत्य है, ऐसा कहकर करते हैं—(पां०) ३—'आपके प्रेमकी सराहना तो साधु लोग करते हैं अर्थात् मैं तो आपकी अवज्ञा करता हूँ, इसलिये बुरा हूँ, आप सब प्रकार भले हैं।' ४—साधु अगाध स्वामिप्रेम मानकर सराहते हैं। ५—स्वामी और साधु स्नेहकी प्रशंसा करते हैं। 'साधु' के अर्थ हैं—'सज्जन, सन्त, अच्छा, उत्तम, भला, सच्चा, प्रशंसनीय। ६—'स्वामि-स्नेहसे मुझको साधु सराहते हैं।' अथवा, मुझपर स्वामीका (आपका) स्नेह है इसीसे आप मुझको साधु कहकर सराहते हैं। पु० रा० कु० ७—हे स्वामिन्! आपका स्नेह ही साधु कहकर मेरी सराहना करता है। (प० प० प्र०)

(नोट—इस कथनसे प्रभुकी असीम अतिशय कृपा और प्रेम अपने ऊपर व्यञ्जित कर रहे हैं।)

☞ स्मरण रहे कि वसिष्ठजीने भी यही कहकर कि '*आरत कहहिं बिचार न काऊ*' सब भार 'रामरजाइ' पर डाला, भरतजीने भी वही किया। हमको उपदेश है कि आपत्तिमें प्रभुका ही आश्रय लें, उन्हींकी इच्छाको प्रधान मानें; यह कदापि न कहना चाहिये कि ऐसा कर दीजिये।

अब कृपाल मोहि सो मत भावा। सकुच स्वामि मन जाइ न पावा॥ ७॥
प्रभुपद सपथ कहउँ सतिभाऊ। जग मंगल हित एक उपाऊ॥ ८॥

दो०—प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब॥ २६९॥

शब्दार्थ—अनट (सं० अनृत=अत्याचार)=उपद्रव, अनीति, अन्याय, यथा—'*सहि कुबोल साँसति सकल अँगइ अनट अपमान। तुलसी धरम न परिहरिय कहि करि गये सुजान॥*' (दो० ४४६), '*खेलत संग अनुज बालक नित जोगवत अनट अपाउ*' (विनय १००)। '*अवरेब*' (सं० अव= विरुद्ध+रेव=गति)= पेच, उलझन,

कठिनाई, बिगाड़, वक्रगति। यथा—*'रामकृपा अवरेब सुधारी। बिबुध धारि भइ गुनद गोहारी॥'* (३१७।३), *'रिषि नृप सीस ठगौरी सी डारी। कुलगुरु सचिव निपुन नेवनि अवरेब न समुझि सुधारी॥'* (गी० १।९८)

अर्थ—हे कृपालु! अब तो मुझे वही मत भाता है (अच्छा लगता है) जिससे स्वामीके मनमें संकोच न प्राप्त हो॥७॥ प्रभुके चरणोंकी कसम! मैं सत्यभावसे कहता हूँ कि जगत्मात्रके मङ्गलकल्याण भलाईका एक यही उपाय है॥८॥ प्रसन्न मनसे और सङ्कोच छोड़कर प्रभु जिसे जो आज्ञा दें उसे ही सब लोग सिरपर धर-धरके करेंगे और सब उपद्रव और अड़चनें-उलझनें मिट जायँगी॥२६८॥

नोट—१ *'सकुच स्वामि मन जाइ न पावा'*—यह वही है जो पूर्व अभी-अभी कह आये हैं कि *'जनहित प्रभु चित छोभु न होई'* इसीको यहाँ दुहराया है और आगे तेहरायँगे, यथा—*'प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि'*।' तीन बार कहकर सत्य प्रतिज्ञा भी सूचित की जाती है। वैसे ही यहाँ तीन बार संकोच छोड़कर आज्ञा देनेके लिये विनय की है।

नोट—२ *'अनट अवरेब'*—अन्याय अनीति जो हुई कि बड़ेके रहते छोटेके लिये राज्य माँगा गया, फिर उसमें और अड़चनें पड़ीं कि वचन पालन करनेकी प्रतिज्ञाएँ की गयीं।

☞ यहाँतक इस भाषणमें भरतजीने चार पक्ष लिये। एक कि आप राज्याभिषेक कराकर राजा बनें, अवध लौट जायँ। दूसरा कि मैं और शत्रुघ्न, वा मैं लक्ष्मण शत्रुघ्न, वा, मैं और आप वनको जायँ। तीसरा कि जिस प्रकार मन आपका प्रसन्न हो वह करें, और चौथा यहाँ कहा कि *'प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि'*।' यह सर्वोपरि सिद्धान्त कहा। किसी बातका संकोच न कीजिये, मनमें कोई भी चिन्ता या सोच न कीजिये, केवल आज्ञा दीजिये, जो इच्छा हो, वही आज्ञा हम सब मानेंगे, उसमें प्रसन्नता मानेंगे और उसमें अपना मङ्गल-कल्याण मानेंगे।-अहा! कैसा जबरदस्त त्याग है! कैसा सर्वोच्च आत्मसमर्पण है!

नोट—३ यह प्रथम दरबार समाप्त हुआ पर इसमें एक बात भी निश्चय न हुई। श्रीरामचन्द्रजीने भरतजीसे कहा कि *'मन प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करउँ सोइ आजु'* और भरतजीने उनपर यही कहते हुए छोड़ा कि *'प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब'*।' इन्होंने उनपर और उन्होंने इनपर छोड़ा। यहाँ दोनोंकी वाणीका एक स्वरूप है और सेवक-सेव्य-भाव पृथक् है।

नोट—४ स्वामी और सेवक भावका आदर्श यहाँ देख लीजिये।

प० प० प्र०—इस संवादमें शुद्ध मानवी मनका स्वभाव अति मार्मिक रीतिसे चित्रित किया गया है। भगवान् अपनेको भक्तपराधीन बता रहे हैं। भक्त अपनेको भगवदधीन जनाता है। गुरु भी भक्त-प्रेमाधीन होकर भक्तकी वकालत करते हुए भी सब भार रामेच्छापर ही छोड़ देते हैं। सुरपुरवासियों और अवधवासियोंके चित्तमें सुख-दुःखके कल्लोल पल-पलमें उठते और बदलते हैं। धर्मका त्याग करनेको कोई भी दूसरेको कहनेका साहस नहीं करता। राम-भक्तियुक्त वसिष्ठजी, भरतजी, माताएँ, प्रजा सभी अपने स्वार्थकी पूर्ति तो चाहते हैं पर साथ ही आज्ञापालन-धर्मको इससे एवं सबसे बड़ा परम स्वार्थयुक्त परमार्थ भी समझते हैं। यह है परमोच्च, भारतीय व्यवहारका आदर्श!! श्रीभरतजीने जो अनेक विकल्प रखे हैं इनमें धर्मनीतिकी निपुणता और सेवकधर्म दोनोंका समन्वय अत्यन्त कोमल प्रेम परिप्लुत हृदयसे किया गया है।

नोट—भरतभाषणका उपक्रम है *'करि प्रनाम बोले भरत।'* (२६६) और उपसंहार है *'भरत बचन सुचि।'* (२७०।१)

भरत बचन सुचि सुनि सुर हरषे। साधु सराहि सुमन बहु* बरषे॥१॥
असमंजस बस अवधनिवासी। प्रमुदित मन तापस बनवासी॥२॥
चुपहिं रहे रघुनाथ सँकोची। प्रभु गति देखि सभा सब सोची॥३॥

अर्थ—भरतजीके पवित्र वचन सुनकर देवता प्रसन्न हुए। 'साधु साधु', धन्य हो! धन्य हो! इस प्रकार

* 'सुर'—रा० प्र०।

(वा, साधुताकी) प्रशंसा करके उन्होंने बहुत फूल बरसाये॥ १॥ अवधवासी दुविधामें पड़ गये (कि लौटेंगे या नहीं), तपस्वी और बनवासी मनमें बहुत प्रसन्न हुए॥ २॥ परंतु संकोची स्वभाव श्रीरघुनाथजी संकोच वश होकर चुप ही रह गये (कि क्या कहें)। प्रभुकी यह दशा देखकर सब सभा सोचमें पड़ गयी॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'भरत बचन सुचि सुनि सुर हरषे।…'* इति। (क) भरतजीके वचनोंमें स्वार्थका सर्वथा पूर्णतया त्याग है, निष्कामता है और सेवकधर्मका सच्चा आदर्श है एवं स्वार्थ-परमार्थका सार है; इसीसे उनको 'शुचि' विशेषण दिया। अन्तिम वचनोंमें लेशमात्र अपवित्रता नहीं, प्रथम दो पक्ष जो उन्होंने लिये उनमें स्वार्थकी पूरी झलक है, तीसरेमें प्रसन्नता हो वह कीजिये यह कहा गया पर वहाँ संकोच फिर भी मनमें रहता और इससे तो संकोच भी हटा दिया गया।

(ख) देवता खिन्नचित्त हो गये थे, यथा—*'सुरगन सहित सभय सुरराजू।'* (२६५।१) अब अपने अनुकूल वचन सुनकर हर्षित हुए। विपत्ति अब इस स्थानसे उठकर फिर अवधवासियोंपर पहुँची—*'असमंजस बस अवधनिवासी।'* देवताओंने 'बहुत' फूल बरसाये क्योंकि स्वार्थकी सिद्धि हुई। फूल बरसाकर वे अपने हर्षको प्रकट कर रहे हैं। पुनः, भरतजीकी शरण गये थे, कार्य सिद्ध हुआ, अतः बहुत फूल बरसाकर पूजा-सेवा जना रहे हैं, यथा—*'बरषहि सुमन जनावहिं सेवा।'* *'साधु सराहि'* अर्थात् 'साधु साधु', जो तुमने कहा वह सत्य है, सत्य है। शाबाश! ऐसा क्यों न कहो! तुम पूरे साधु हो, जो पराये कार्यको साधे वही साधु है, तुमने स्वार्थका त्याग करके हम सबोंका स्वार्थ साधा, यही सत्पुरुषोंका धर्म है। पुनः 'साधु सराहि',—*'भरत धन्य कहि धन्य कहि नभ सुर बरषहिं फूल।'*

(ग)—सुरगुरुके *'तजहु सोच बिधि बात बनाई'* इन वचनोंकी यहाँ सफलता दिखायी। अभीतक भरतजी बराबर लौटानेको ही चाहते रहे थे। [सर्वत्र भरतजीका भाव यही दर्शित होता रहा कि रामजी लौटें, यथा—(१) *'तुम पै पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी॥ जेहि सुनि बिनय मोहि जन जानी। आवहिं बहुरि राम रजधानी॥'* (२) *'मिटइ कुरोग राम फिरि आए। बसइ अवध नहिं आन उपाए॥'* (३) *'सुनि बनगमन कीन्ह रघुनाथा। करि मुनि बेष लखन सिय साथा॥ बिनु पानहीं पयादेहि पाये। संकर साखि रहेउँ एहि धाये॥'* (इससे जनाया कि आपका वनमें रहना हमको अप्रिय है; अतएव अवश्य लौटावेंगे)। पुनः भरतजीके मनका विचार यथा—(४) *'अवसि फिरहिं गुरु आयसु मानी। मुनि पुनि कहब रामरुचि जानी॥ मातु कहे बहुरहिं रघुराऊ। राम जननि हठ करबि कि काऊ॥'*] इससे देवता दुःखित रहे, अब सुखी हुए जब उन्होंने कहा कि *'किये रजाइ कोटि बिधि नीका'* *'अब कृपालु मोहि सो मत भावा। सकुच स्वामि मन जाइ न पावा॥'* और *'मन प्रसन्न करि…।'* (पु० रा० कु०), और रामजीकी इच्छा वनमें रहनेकी है ही, यथा—*'नवगयंद रघुबीर मन राज अलान समान। छूट जानि बनगवन सुनि उर अनंदु अधिकान।'* (५१)

टिप्पणी—२ *'प्रमुदित मन तापस बनवासी'* इति।—वनमें रहनेवाले तपस्वी प्रसन्न हुए क्योंकि प्रभुके वनवाससे वे निर्भय तप कर सकते थे और कोल-किरातादि हर्षित हुए कि दर्शनका विक्षेप होनेवाला था सो मिट गया।

टिप्पणी—३ *'चुपहिं रहे रघुनाथ सँकोची।…'* इति। प्रभुको मौन देख *'सभा सब'* अर्थात् अवध-समाज, मुनि-समाज और देव-समाज सभी सोचमें पड़ गये कि क्यों नहीं बोलते। क्या संकोच है? उत्तर—(क) पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि यद्यपि भरतलालने कहा कि *'प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब। सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब॥'* तथापि इस प्रकारकी आज्ञा देना तो, दूसरे शब्दोंमें राजा होना स्वीकार करना है क्योंकि राजाकी ही आज्ञा सबपर चलती है। श्रीरामजी संकोचसे भरतलालको ऐसा उत्तर नहीं देना चाहते, अतः चुप ही रह गये। प्रभुको संकोचमें देखकर सारी सभा सोचमें पड़ गयी कि ये संकोचसे चुप हैं, मालूम होता है कि इन्हें अपने कार्यक्रममें किसी प्रकारका कुछ भी परिवर्तन इष्ट नहीं है। (ख) पं० रामकुमारजीका मत है कि संकोच एक तो यह कि *'इत पितु बच उत बंधु सँकोचू।'* दूसरे जो भरतने कहा कि हम वनको जायँ,

इसमें संकोच कि हम बड़े होकर घर रहें। ये लड़के वनमें कष्ट झेलें। (ग) मयंककार कहते हैं कि *'नतरु जाहिं बन तीनिउ भाई'* इसे सुनकर बुद्धि और विवेक कुछ काम न कर सके, अतएव प्रभु चुप हो रहे। कबतक चुप रहते और न जाने क्या होता अर्थात् न जाने क्या उत्तर देते, वे सोचमें मग्न थे कि इतनेमें जनक-दूत आ गये और उनके आनेसे और ही प्रसंग चला, यह प्रसंग जाता रहा मानो सोच-सिन्धुका आधार ये दूत जहाजरूपसे हुए। (घ) पंजाबीजी चुप रहनेके ये भाव लिखते हैं—(१) गम्भीर स्वभाव (२) इन वचनोंमें अपने मनोरथकी सिद्धि देखकर भीतरसे संतुष्ट हुए, शीघ्र कुछ न कहा क्योंकि सभाको दु:ख होता। (३) अन्तर्यामी हैं, जानते हैं कि राजा जनक भी आ रहे हैं, यदि अभी कहकर इनको बिदा कर दें तो उचित न होगा, सबका दरबार एक साथ हो जाय, वे भी जो कहना चाहें कह लें तब उनके और गुरुजी दोनोंके सिर भरतजीकी रक्षाका भार भी सौंपकर सबको एक साथ लौटावें।

पं० रामचन्द्र शुक्ल—इस पुण्य समाजके प्रभावसे चित्रकूटकी रमणीयतामें पवित्रता भी मिल गयी। उस समाजके भीतर नीति, स्नेह, शील, विनय, त्याग आदिके संघर्षसे जो धर्म-ज्योति फूटी, उससे आसपासका सारा प्रदेश जगमगा उठा, उसकी मधुर स्मृतिसे आज भी वनस्थली परम पवित्र है। चित्रकूटकी उस सभाकी कार्यवाई क्या थी, धर्मके एक-एक अङ्गकी पूर्ण और मनोहर अभिव्यक्ति थी। रामचरितमानसमें वह सभा एक आध्यात्मिक घटना है। धर्मके इतने स्वरूपोंकी एक साथ योजना हृदयकी इतनी उदात्त वृत्तियोंकी एक साथ उद्भावना तुलसीके ही विशाल मानसमें सम्भव थी। यह सम्भावना उस समाजके भीतर बहुत-से भिन्न-भिन्न वर्गोंके समावेशद्वारा संघटित की गयी है। राजा और प्रजा, गुरु और शिष्य, भाई और भाई, माता और पुत्री, पिता और पुत्री, श्वशुर और जामातृ; सास और बहू, क्षत्रिय और ब्राह्मण, ब्राह्मण और शूद्र, सभ्य और असभ्यके परस्पर व्यवहारोंका उपस्थित प्रसंगके धर्म गाम्भीर्य और भावोत्कर्षके कारण अत्यन्त मनोहररूप प्रस्फुटित हुआ। धर्मके उस स्वरूपको देखकर सब मोहित हो गये। क्या नागरिक क्या ग्रामीण और क्या जंगली, भारतीय शिष्टता और सभ्यताका चित्र यदि देखना हो तो इस राज-समाजमें देखिये। कैसी परिष्कृत भाषामें कैसी प्रवचन पटुताके साथ प्रस्ताव उपस्थित होते हैं, किस गम्भीरता और शिष्टताके साथ बातका उत्तर दिया जाता है, छोटे-बड़ेकी मर्यादाका किस सरसताके साथ पालन होता है। सबकी इच्छा है कि राम अयोध्याको लौटें पर उनके स्थानपर भरत वनको जायँ, यह इच्छा भरतको छोड़ शायद ही और किसीके मनमें हो। अपनी प्रबल इच्छाओंको लिये हुए लोग सभामें बैठते हैं पर वहाँ बैठते ही धर्मके स्थिर और गम्भीर स्वरूपके सामने उनकी व्यक्तिगत इच्छाओंका कहीं पता नहीं रह जाता, राजाके सत्य-पालनसे जो गौरव राजा और प्रजा दोनोंको प्राप्त होता दिखायी दे रहा है उसे खण्डित देखना वे नहीं चाहते। जनक, वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि धर्मतत्त्वके पारदर्शी जो कुछ निश्चय कर दें उसे वे कलेजेपर पत्थर रखकर माननेको तैयार हो जाते हैं। इस प्रसंगमें परिवार और समाजकी ऊँची-नीची श्रेणियोंके बीच कितने सम्बन्धियोंका उत्कर्ष दिखायी पड़ता है। देखिये—(१) राजा और प्रजाका सम्बन्ध लीजिये। अयोध्याकी सारी प्रजा अपना सब काम-धंधा छोड़ भरतके पीछे रामके प्रेममें उन्हींके समान मग्न चली जा रही है और चित्रकूटमें रामके दर्शनसे आह्लादित होकर चाहती है कि १४ वर्ष यहीं काट दें। (२) भरतका अपने बड़े भाईके प्रति जो अलौकिक स्नेह और भक्तिभाव यहाँसे वहाँतक झलकता है, वह तो सबका आधार ही है। (३) ऋषि या आचार्योंके सम्मुख प्रगल्भता प्रकट होनेके भयसे भरत और राम अपना मत प्रकट करते सकुचाते हैं। (४) राम सब माताओंसे जिस प्रकार प्रेमभावसे मिले, वह उनकी शिष्टताका ही सूचक नहीं है, उनके अन्त:करणकी कोमलता और शुद्धता भी प्रकट करता है। (५) विवाहिता कन्याको पतिकी अनुगामिनी देख जनक जो यह हर्ष प्रकट

करते हैं—'*पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ। सुजस धवल जग कह सब कोऊ॥*', वह धर्म-भावपर मुग्ध होकर ही। (६) भरत और राम दोनों जनकको पिताके स्थानपर कहकर सब भार उन्हींपर छोड़ते हैं। (७) सीताजी अपने पिताके डेरेपर जाकर माताके पास बैठी हैं। इतनेमें रात हो जाती है और वे असमंजसमें पड़ती हैं—'*कहत न सीय सकुचि मन माहीं। इहाँ बसब रजनी भल नाहीं॥*' पति तपस्वीके वेषमें भूशय्यापर रात काटें और पत्नी उनसे अलग राजसी ठाट-बाटके बीच रहे, यही असमंजसकी बात है। (८) जबसे कौसल्या आदि आयी. हैं, तबसे सीता बराबर उनकी सेवामें लगी रहती हैं। (९) ब्राह्मणवर्गके प्रति राजवर्गके आदर और सम्मानका जैसा मनोहर स्वरूप दिखायी पड़ता है, वैसे ही ब्राह्मणवर्गमें राज्य और लोकके हित-साधनकी तत्परता झलक रही है। (१०) केवटके दूरसे ऋषिको प्रणाम करने और ऋषिके उसे आलिङ्गन करनेमें उभय पक्षका व्यवहार-सौष्ठव प्रकाशित हो रहा है। (११) अन्य कोल-किरातोंके प्रति सबका कैसा मृदुल और सुशील व्यवहार है। (ना० प्र० ग्रन्थावलीसे)

प्रथम-दरबार-भाषण समाप्त हुआ

श्रीजनक-दूत-आगमन

जनक दूत तेहि अवसर आए। मुनि बसिष्ठ सुनि बेगि बोलाए॥४॥
करि प्रनाम तिन्ह रामु निहारे। बेषु देखि भए निपट दुखारे॥५॥
दूतन्ह मुनिबर बूझीं बाता। कहहु बिदेह भूप कुसलाता॥६॥
सुनि सकुचाइ नाइ महि माथा। बोले चरबर जोरें हाथा॥७॥
बूझब राउर सादर साँई। कुसल हेतु सो भएउ गोसाँई॥८॥

शब्दार्थ—'**चर**'=राजाकी ओरसे नियुक्त किया हुआ मनुष्य जिसका काम प्रकाश या गुप्त रूपसे अपने अथवा पराये राज्योंकी भीतरी दशाका पता लगाना हो; गूढ़ पुरुष; दूत।

अर्थ—उसी समय श्रीजनक महाराजके दूत आये। श्रीवसिष्ठ मुनिने सुनकर उनको तुरन्त (वहाँ) बुला लिया॥४॥ उन्होंने प्रणाम करके श्रीरामजीको देखा तो उनका मुनिवेष देखकर वे अत्यन्त दुःखी हुए॥५॥ मुनिश्रेष्ठने दूतोंसे बात पूछी (कि) विदेहराजका कुशल (समाचार) कहो॥६॥ (कुशल-प्रश्न) सुनकर, सकुचाकर, पृथ्वीपर माथा नवाकर हाथ जोड़े हुए वे श्रेष्ठ दूत बोले—स्वामिन्! आपका सादर पूछना ही, हे गोसाँई! कुशलका कारण हो गया॥७-८॥

नोट—१ (क) '*जनक दूत*' इति। यहाँ विदेह शब्द नहीं दिया क्योंकि जो विदेह होगा वह दूत कैसे भेजेगा और विदेहके दूत इतनी दूर जाते क्योंकर, वे तो ब्रह्मानन्दमें ही मग्न रह जाते। इससे यह भी प्रारम्भमें ही जना दिया कि जनकमहाराज भी वनवास सुनकर दुःखी हुए हैं। (प० प० प्र०) ऐसे-ऐसे अवसरोंपर प्रायः 'जनक' या नृप आदि शब्दोंका ही प्रयोग हुआ। यथा—'*जनक कीन्ह कौसिकहि प्रनामा। ......मुदित राउ कहि भलेहि कृपाला॥*' '*पठए दूत बोलि तेहि काला।*' (१।२८६, २८७) '*राजा सबु रनिवास बोलाई। जनकपत्रिका बाँचि सुनाई॥*' (१।२९५) इत्यादि। (ख) '*तेहि अवसर*' अर्थात् जिस समय सब शोचमें पड़े थे और रघुनाथजी संकोचवश चुप थे, कुछ बोलते नहीं थे। (ग) '*मुनि बसिष्ठ''बोलाए*' इति। यहाँ वसिष्ठजी पिताके स्थानपर हैं, इससे उन्होंने बुलाया। विवाहके समय जब दूत आये थे तब राजाने बुलाया था, क्योंकि वे मौजूद थे। (घ) '*बेगि बोलाए*' इति। इससे अपना प्रेम और उनका सम्मान जनाया। दूसरे, सभाके उत्थानका समय जानकर शीघ्र बुलाया जिसमें सब जनक महाराजके आगमनका समाचार सुन लें। (पं०) तीसरे, जितनी जल्दी वे आयँगे उतनी ही जल्दी सबका सोच-संकोच दूर हो जायगा, लोगोंका चित्त उधर लग जायगा और वे शीघ्र न बुलाये जाते तो सम्भव था कि रघुनाथजी भरतजीको उत्तर भी दे देते। तब फिर सबको अवध लौटनेकी तैयारी करनी पड़ती, सबको शोक होता। उनके शीघ्र

आ जानेसे सभा इसी समय समाप्त होगी, कुछ दिन सबको और रामदर्शनका सौभाग्य प्राप्त रहेगा। अत: *'बेगि बोलाए।'*

नोट—२ *'करि प्रनाम तिन्ह रामु निहारे'...।'* गुरुजीने बुला भेजा था अत: प्रथम उनको प्रणाम करना उचित था। अत: उनको प्रणाम करके तब श्रीरामजीकी ओर निहार कर देखा। भाव कि व्यवस्था तो सुन चुके थे, अब उनको देखा। दूसरे वह मूर्ति ही ऐसी है कि एक बार देखा या सुना हो तो देखनेकी लालसा ही रहती है। वेष देखकर निपट दु:खी हुए, क्योंकि ब्याहके बाद आज ही प्रथम देखा, कहाँ तो वह दूलह रूप *'ब्याह साज सब साजें'* का दर्शन और कहाँ उन्हीं आँखों आज तपस्वी वेष वल्कल वस्त्र आदि धारण किये देखा।

नोट—३ *'सुनि सकुचाइ नाइ महि माथा।'....'* इति। दूत क्यों सकुचा गये? (उत्तर)—(क) अवधमें ऐसा अनर्थ हुआ, हम कैसे कहें कि विदेहका कल्याण है, वे सकुशल हैं—(रा० प्र०)। (ख) उत्साहका समय हो तो कुशल कहें, यह समय तो कुशलका नहीं, यह समझ सिर नीचे कर लिया। (पु० रा० कु०) (ग) दूत मुनिके कुशल-प्रश्नको व्यंग्य समझकर सकुचे। व्यंग यह कि जिस विपत्तिमें संसार विकल हो गया उसमें वे क्यों विकल होने लगे, देही होते तो वे भी समधियानेके इस घोर अनर्थ और आपत्तिको सुनकर व्याकुल हो तुरत दौड़े आते, 'विदेही' हैं देहाध्यासरहित हैं, उनपर इसका क्या प्रभाव पड़ सकता? अतएव वे तो अवश्य ही कुशल होंगे। पुन: 'विदेह' का भाव कि उनकी सारी प्रजा ही विदेही है; विदेहीका किसीपर ममत्व कैसा? इसीसे ऐसे अनर्थमें कोई भी मनुष्य न आया। (पाँड़ेजी, वै०) इसी भावको दीनजीके शब्दोंमें सुनिये—गुरुने पूछा कि विदेहकी कुशल कहो अर्थात् वे मजेमें हैं न? अवधमें इतना बड़ा कठोरताका बीभत्स ताण्डव नृत्य हो गया, उन्हें खबर क्यों हुई होगी? गूढ़ व्यंग कि वे सत्य ही विदेह हैं, संसारकी उन्हें खबर ही नहीं; इसीसे जामाताकी भी खबर न ली। 'विदेह' शब्दमें **'विवक्षितवाच्य संलक्ष्यक्रम व्यंग्य'** है। (घ)—नृपमृत्यु, रामवनवास और अवध शोकका घर, ऐसेमें विदेहका कुशल कैसे कहें और यदि मुनिसे कहें कि आपका प्रश्न ही अनुचित है तो ढिठाई है और यदि चुप रहें तो गुरुकी अवज्ञा होगी अत: संकोचवश हो गये। (पं०)। (ङ) प्रश्नमें व्यंग्य समझ गये अत: 'वर' विशेषण दिया अर्थात् बड़े चतुर हैं, बुद्धिमान् हैं।

वि० त्रि०—*'दूतन्ह'''जोरें हाथा।'* दूतोंके आते ही मुनिजीने विदेहराजकी कुशल पूछी। इतने दिनोंतक जनकपुरसे ऐसी अनर्थकारी घटना होनेपर भी किसीका न आना और आज ढूँढ़ते हुए दूतोंका चित्रकूट आना समझकर मुनिजीको जनकजीके विषयमें शङ्का हो गयी, इसलिये उन्हें जल्दीसे बुलवाया, और आते ही विदेहराजकी कुशल पूछी। भाव यह कि मुनिजी भलीभाँति जानते हैं कि जनकजीके विदेहत्वका कारण रामप्रेम है। चक्रवर्तीजीका प्रेम प्रकट था इनका गूढ़ था। दूतके आनेसे मुनिजीको उनकी कुशलमें संदेह हो उठा कि कहीं 'सम समधी' ने अपना समत्व अन्ततक तो नहीं निबाहा।

दूत बड़ा बुद्धिमान् था, प्रश्न सुनते ही सब आशय समझकर संकुचित हो गया। कैसे कहे कि सब कुशल है। अत: वह विदेहत्वको राजाके प्राण बचनेका कारण बतलाने लगा। यदि विदेह न होते तो उनकी भी चक्रवर्तीजीकी-सी गति होती।

नोट—४ *'बूझब राउर सादर साँई।'....'* इति। आदर-पूर्वक पूछना ही कुशलका कारण हुआ। अर्थात् कुशल न थी, उनकी विदेह दशा जाती रही थी, वे ऐसे व्याकुल हो गये कि उनका कुशल नहीं जान पड़ता था। पर आपने जो 'विदेह' सम्बोधन करके उनका 'कुशल' पूछा है तो अब वे अपनी पूर्व विदेह दशाको अवश्य प्राप्त हो जायँगे, उनका शोक अब दूर हो जायगा और वे जीवित (कुशल) बच जायँगे। आपके ये दोनों शब्द ही उनके लिये आशीर्वाद रूप हैं। यहाँ 'प्रथम चित्रोत्तर अलंकार' है।

दो०—नाहिं त कोसलनाथ कें साथ कुसल गइ नाथ।
मिथिला अवध बिसेष तें जगु सबु भयउ अनाथ॥ २७०॥

कोसलपति गति सुनि जनकौरा। भे सब लोक सोक बस बौरा॥ १॥
जेंहि देखे तेहि समय बिदेहू। नामु सत्य अस लागि न केहू॥ २॥

शब्दार्थ—जनकौरा=[जनक+औरा (प्रत्यय)] जनकका स्थान या नगर, यथा=*'बाजहिं ढोल निसान सगुन सुभ पाइन्हि। सिय नैहर जनकौर नगर नियराइन्हि॥'* (जानकी मङ्गल ७४) राजा जनकके वंशज या सम्बन्धी। **लोक**=लोग। **बौरा**=बावला, पागल।

अर्थ—नहीं तो, हे नाथ! कुशल तो कौशलदेशके स्वामी* (श्रीदशरथ महाराज) के साथ ही चली गयी, सारा जगत् ही अनाथ हो गया, जनकपुर और अवध तो विशेषरूपसे अनाथ हो गये॥ २७०॥ जनक महाराजके सम्बन्धी एवं जनकपुरवासी सभी लोग कोशलराजकी गति (मृत्यु) सुनकर शोकवश बावले हो गये। (अर्थात् सबका ज्ञान जाता रहा॥ १॥ उस समय जिनने विदेहजीको देखा उनमेंसे किसीको ऐसा न लगा कि 'विदेह' नाम सत्य है। अर्थात् सबने यही जाना कि ये झूठे ही विदेह कहलाते हैं, विदेह हैं नहीं, सत्य ही विदेह होते तो शोकातुर कदापि न होते, उनपर राजाकी मृत्यु और रामवनवास आदिका प्रभाव ही न पड़ता॥ २॥†

नोट—१ *'नाहिं त कोसलनाथ कें साथ कुसल गइ'''* इति। (क) 'कोसलनाथ' में गूढ़ भाव यह भी है कि कुशलके नाथ ही न रहे तब कुशल कैसी? यदि आज हमारे राजा 'विदेह' न होते तो शोकसे आज संसारमें कुशलका अभाव ही हो जाता। (दीनजी) (ख) कुशल तो कोशलेश दशरथजीके साथ इस लोकको छोड़कर सुरलोकको चली गयी, तब किसीकी कुशल कैसे हो सकती है? भाव कि अब तो कुशलको इन्द्र आदि देवताओंके लिये दशरथजी साथ लेकर गये हैं, उन्हींकी कुशल होगी, संसारमें किसीकी कुशल नहीं; क्योंकि 'कुशल' पदार्थ ही यहाँसे चला गया जिससे सबकी कुशल होती। (ग) दशरथ-मरणसे साधारणतया तो संसार भर अनाथ हो गया पर मिथिला और अवध तो विशेषरूपसे अनाथ हो गये। जनकपुरके दूत हैं इसीसे चतुराईसे 'मिथिला' को प्रथम कहा अर्थात् पहले मिथिला ही अनाथ हुई, अवधसे अधिक शोक मिथिलामें छा रहा है, यहाँसे वहाँ किसी प्रकार शोक कम नहीं है।

नोट—२ *'जेंहि देखे तेहि समय बिदेहू। नामु सत्य'''* इति। विदेहीको दुःख कैसा? दुःख तो देहीको होता है न कि विदेहीको—यह व्यङ्गार्थ वाच्यार्थके साथ ही प्रकट हो रहा है। *'नामु सत्य अस लागि न केहू'* के भाव अर्थमें आ गये हैं। गुरुजीके कहे हुए व्यङ्गपूर्ण 'विदेह' शब्दका उत्तर दूतोंने कैसी मनोहर युक्तिके साथ दिया है। (वीर)

पं०, रा० प्र०—(दूसरा अर्थ) 'विदेह नाम सत्य है ऐसा किसे न लगा' अर्थात् अभीतक तो सुनते ही थे कि विदेह हैं पर परीक्षा आज ही हुई। शोकके मारे वे देहाध्यासरहित हो गये, देहसुध जाती रही तब सबने जान लिया कि सचमुच ये विदेह हैं, यथा नाम तथा गुण।

पु० रा० कु०—तीसरा अर्थ यह होता है—'विदेह तो विदेह ही हैं; पर उस समय तो जिसीको देखिये वही विदेह हो गया। 'विदेह' नाम छोड़ और कोई (जो-जो जिसके नाम थे वे) नाम सत्य न लगे, सत्य यही नाम लगा।'

रानि कुचालि सुनत नरपालहि। सूझ न कछु जस मनि बिनु ब्यालहि॥ ३॥
भरत राज रघुबर बन बासू। भा मिथिलेसहि हृदय हराँसू॥ ४॥
नृप बूझे बुध सचिव समाजू। कहहु बिचारि उचित का आजू॥ ५॥

---

* सरयू वा घाघराके दोनों तटोंपरका देश कोशल कहलाता था। उत्तर तटवाला उत्तर कोशल और दक्षिणवाला दक्षिण कोशल कहलाता है। इसके कोई ४ खण्ड और कोई ७ खण्ड कहते हैं। अयोध्या इसकी राजधानी है।

† अर्थान्तर—जिसको देखिये उसे उस समय विदेह देखिये। जैसा विदेह नाम सबको सच्चा लगा, वैसा किसीको कभी नहीं लगा। (नं० प०) पं० रामकुमारजीने यह अर्थ किया है।

समुझि अवध असमंजस दोऊ। चलिअ कि रहिअ न कह कछु कोऊ॥ ६॥

शब्दार्थ—**हरास** (ह्रास)=दु:ख, भयसहित चिन्ता और व्याकुलता।

अर्थ—रानीकी कुचाल सुनते ही, राजाको कुछ न सूझ पड़ा (वे ऐसे व्याकुल हो गये) जैसे मणि बिना सर्पको कुछ नहीं सूझता॥ ३॥ भरतको राज्य और रघुवर श्रीरामचन्द्रजीको वनवास! यह सुनकर जनक महाराजके हृदयमें क्लेश हुआ॥ ४॥ राजाने पंडितों और मन्त्रियोंकी समाजसे पूछा कि विचारकर कहिये, आज क्या उचित कर्तव्य है॥ ५॥ अवधमें दोनों असमंजस समझकर वा अवधकी दशा समझ दोनों प्रकारसे असमंजस (कठिनाई, अड़चन, आगा-पीछा) देख, चलिये वा रहिये अर्थात् न जाइये, कोई कुछ भी नहीं कहता॥ ६॥

नोट—१ *'सूझ न कछु जस मनि बिनु ब्यालहि'* इति। (क) सर्पकी मणि खो जाती है तो वह व्याकुल हो छटपटाता है, उसे कुछ सूझ नहीं पड़ता। वैसे ही राजाको कुछ न सूझ पड़ा कि क्या करना चाहिये; पुन:, (ख)—'मणिफणिका दृष्टान्त देकर सूचित किया कि 'राजाका हृदय अनर्थ करनेवालोंपर अति रोषसे भर गया।' जैसे सर्पकी मणि खो जाय तो वह बड़ा कुपित हो जाता है, मनुष्यको पा जाय तो प्राण ही ले ले। (पां०)

नोट—२ *'भरत राज रघुबर बन बासू।''हराँसू'* इति। यह अनीति सुनी, इससे दु:ख हुआ। छोटी रानीका पुत्र और वह भी छोटा पुत्र—उसको राज्य हो, यह वंशके लिये कलंक है। और, बड़ी रानीका पुत्र, वह भी सब पुत्रोंमें ज्येष्ठ अतएव राज्याधिकारी है वह वनको भेजा गया, यह लोक-वेद आदि सब भाँतिसे महादोष है—ऐसा समझकर दु:ख हुआ।

नोट—३ *'समुझि असमंजस दोऊ।''* इति।—असमंजस दोनों प्रकारसे यह कि राजाका मरण सुनकर वहाँ न जायँ तो अनुचित और वहाँ जायँ तो कैकेयी और भरतके पक्षमें समझे जावेंगे, अवधवासियों एवं कौसल्या, सुमित्रा आदिके विरोधी बनेंगे। और, यदि जाकर भरत और कैकेयीको समझावें और वे न मानें तो जाना भी व्यर्थ हो और उनसे विरोध हो। दूसरे हमारे घर भाई-भाईमें फूटका डर है। भाई कुशध्वज यह न समझें कि भरत उनके दामाद हैं और राम हमारे, इसीसे हम भरतके राज्यमें विरोध करते हैं। दोनों ही दामाद हैं, किसकी-सी करें, कुछ भी बन नहीं पड़ता।

नृपहिं धीर धरि हृदय बिचारी। पठए अवध चतुर चर चारी॥ ७॥
बूझि भरत सतिभाउ कुभाऊ। आएहु बेगि न होइ लखाऊ॥ ८॥
दो०—गए अवध चर भरत गति बूझि देखि करतूति।
चले चित्रकूटहि भरत चार चले तिरहूति॥ २७१॥

शब्दार्थ—'**नृपहिं**'=राजाने ही। '**सतिभाउ**'=यहाँ 'कुभाऊ' के साथ देकर उलटा अर्थ जनाया अर्थात् सद्भाव, शुभचिन्ताकी वृत्ति, प्रेम और हितका भाव, मेलजोल, अच्छी नीयत। '**लखाऊ**'=लक्ष्य, पता, पहचान, चिह्न, ताड़ने या भाँपनेका भाव, यथा—*'और एक तोहिं कहौं लखाऊ। मैं एहि बेष न आउब काऊ॥'* (१। १६९) **बूझि**=अपनी बुद्धिसे समझकर जानकर। **चर, चार**=गुप्त दूत, जासूस।

अर्थ—तब राजाने ही धीरज धरकर हृदयमें विचारकर चार चतुर गुप्तचर अवध भेजे (और उनसे कहा कि)॥ ७॥ भरतजीके सद्भाव या दुर्भावका पता लगाकर तुम लोग शीघ्र लौटना, किसीको तुम्हारा पता न लगे॥ ८॥ दूत अवधको गये। भरतजीकी दशा समझकर और उनकी करनी (सद्व्यवहार) देख, जैसे ही भरतजी चित्रकूटको चले गुप्तचर तिरहुतको चल दिये॥ २७१॥

नोट—*'पठए अवध चतुर चर चारी'* एवं *'चार चले'*—यहाँ 'चर' और 'चार' शब्द दूतोंके लिये देकर यह भी जनाया कि ये चलनेमें भी बहुत तेज हैं और *'आएहु बेगि'* कहा भी है। पुन: 'चार' संख्या भी बताता है। अर्थात् वे चारों गुप्तचर लौटे।

टिप्पणी—१ *'बूझि भरत सतिभाउ कुभाऊ।''* इति। यहाँ भाव-कुभाव जाननेका कारण है, उसकी जरूरत है; क्योंकि वे सुशील-सदाचारी आदि रहे हैं, जब अवधमें अनर्थ हुआ तब वे ननिहालमें थे। अब आये हैं, तो देखना है कि उनमें वही सदाचार बना है या वे माताके कहनेमें आकर भाईपना और रघुकुलनीतिको तिलाञ्जलि दे बैठे हैं। (ख)—गति अर्थात् मनका व्यवहार पूछकर लोगोंसे सुन-समझकर कि कैकेयीको झिड़का, कौसल्यासे शपथ खायीं और सभामें कैसे विह्वल हुए और गुरु, मन्त्री, किसीके कहनेसे भी राज्य ग्रहण न किया। 'करतूत' कि ऐसा राज्य त्यागकर प्रभुको मनानेको जा रहे हैं।

रा० प्र०—चार दूत भेजे। जिसमें विचारमें कसर न रहे। एकसे चारका विचार अधिक निश्चयात्मक होगा। सन्देह न रह जायगा।

वि० त्रि०—भाव यह कि विदेहराजने समझा कि यह सब काण्ड भरतजीकी अनुपस्थितिमें हुआ है, बहुत सम्भव है कि रानीके कुचालमें भरतका हाथ बिलकुल न हो, अतः भरतजीके भाव-कुभावको प्रस्थानके पहले जान लेना आवश्यक है। अतः महाराज तो अवध नहीं गये, पर उनकी आँखें वहीं लगी हुई थीं। **'चारैः पश्यन्ति राजानः।'** चार गुप्तचर अयोध्यामें छूटे हुए थे, वे रत्ती-रत्तीका पता ले रहे थे। उन्होंने भरतजीका भाव समझ लिया, उनकी करतूत आँखों देख ली। तबतक अवधमें ठहरे रहे जबतक भरतजीका प्रस्थान चित्रकूटको नहीं हुआ। अतः यद्यपि देखनेमें तो विदेहराजकी ओरसे भारी उपेक्षा थी, पर वस्तुतः बड़ी सावधानी थी।

दूतन्ह आइ भरत कइ करनी। जनक समाज जथामति बरनी॥ १॥
सुनि गुर परिजन सचिव महीपति। भे सब सोच सनेह बिकल अति॥ २॥
धरि धीरजु करि भरत बड़ाई। लिये सुभट साहनी बोलाई॥ ३॥
घर पुर देस राखि रखवारे। हय गय रथ बहु जान सँवारे॥ ४॥

शब्दार्थ—**जथा**=जैसी, जिस प्रकारकी। **जथामति**=जैसी बुद्धि है वैसी, समझके मुताबिक। **'साहनी'** (सं० सेनानी)=सेना=साथी, संगी, यथा—*'धरहु भार निज शीश बैठारहु किन साहनी। हमहिं न ओछि महीश मैं खेलब नृप सदसि मह'*—(सबल)।=पारिषद, सभासद्, आनुयायिवर्ग। विशेष देखिये *'भरत सकल साहनी बोलाई।'* (१।२९८।३)=हाथी-घोड़े आदिके दारोगा या जमादार—यहाँ भी यही अर्थ है।

अर्थ—दूतोंने आकर श्रीजनकजीके समाजमें श्रीभरतजीकी करनीका अपनी बुद्धिके अनुसार वर्णन किया॥ १॥ गुरु, कुटुम्बी, मन्त्री और राजा सभी उसे सुनकर शोच और स्नेहसे अत्यन्त व्याकुल हो गये॥ २॥ फिर श्रीजनकजी धैर्य धारण करके श्रीभरतजीकी प्रशंसा करके अच्छे-अच्छे योद्धाओं और साहनियोंको बुलाकर, घर, नगर और देश (मिथिलाप्रान्त) में रक्षकोंको रखकर, घोड़े, हाथी और रथ आदि बहुत-सी सवारियाँ सजवायीं॥ ३-४॥

नोट—१ *'जथामति बरनी'* अर्थात् वह अकथनीय है, इससे जो कुछ वर्णन करते बना कहा। *'जनक समाज'* के 'जनक' पदसे यह भी जनाते हैं कि इस समाजमें 'जनक' पदवीवाले अर्थात् निमिवंशी परिवार बहुत था।

नोट—२ *'भे सब सोच सनेह बिकल अति'* इति। (क) गुरु शतानन्दजी। सोच नृपकी मृत्यु और राम-वनवासका, स्नेह भरतके इस सद्भावपर। (पु० रा० कु०) (ख) पहले कैकेयीकी करनीका सोच था, अब सोचे कि प्रयोजन किसीका सिद्ध न हुआ, व्यर्थ ही सब उपद्रव हुआ, हाथ किसीके कुछ न लगा। (वै०)

नोट—३ *'लिये सुभट साहनी बोलाई।'* योद्धाओं (सेनापतियों) को महल, पुर आदिकी रक्षा करनेके लिये और दारोगाओंको हाथी, घोड़े आदि सजानेके लिये।

दुघरी साधि चले ततकाला। किए बिश्रामु न मग महिपाला॥ ५॥
भोरहिं आजु नहाइ प्रयागा। चले जमुन उतरन सबु लागा॥ ६॥

खबरि लेन हम पठए नाथा। तिन्ह कहि अस महि नाएउ माथा॥७॥
साथ किरात छ सातक दीन्हे। मुनिबर तुरत बिदा चर कीन्हे॥८॥

शब्दार्थ—**दुघरी**=दुघड़िया मुहूर्त्त; दो-दो घड़ियोंके अनुसार निकाला हुआ मुहूर्त्त। यह मुहूर्त्त होराके अनुसार निकाला जाता है। रात-दिनकी ६० घड़ियोंको दो-दो घड़ियोंमें विभक्त करते हैं और फिर राशिके अनुसार शुभाशुभ समयका विचार करते हैं। इसमें दिनका विचार नहीं किया जाता, सब दिन सब ओरकी यात्राका विधान होता है। इस प्रकारका मुहूर्त्त उस समय देखा जाता है जब यात्रा किसी प्रकार दूसरे दिनपर टाली नहीं जा सकती। वि० टी० कार लिखते हैं कि रुद्रयामलतन्त्रग्रन्थमें यह मुहूर्त्त शिव-पार्वती-संवादरूपमें कहा गया है। इसका उल्लेख अथर्ववेद, महाभारत, पाणिनीय व्याकरण आदि प्राचीन ग्रन्थोंमें पाया जाता है। दुघड़ियामें माघ-फाल्गुन माससे गणना प्रारम्भ की गयी है इससे इसका प्रचार वैदिक कालसे होना प्रतीत होता है। इसमें कुल १६ मुहूर्त्त होते हैं, मुहूर्त्तका मान ४८ मिनटका होता है। साधारणतया १६ मुहूर्तोंका फल उन नामानुसार है, उनमें उसी प्रकारके कार्य करनेसे लोग सिद्धिको प्राप्त होते हैं। जैसे रुद्र मुहूर्त्तमें रौद्रकार्य, मैत्रमें स्नान-दान आदि, रावणमें वैर-साधन, विभीषणमें शुभ कार्य, भार्गवमें स्त्रीसेवन, सावित्रीमें सुविद्यापठन इत्यादि। **हम**=हमको। **तत्काल**=उसी समय, तुरंत, फौरन। **छ सातक**=कोई (लगभग) छः-सात।

अर्थ—द्विघटिका मुहूर्त्त शोधकर (विचरवाकर) राजा तुरंत चल दिये, रास्तेमें विश्राम भी न किया॥५॥ आज सबेरे ही प्रयाग-स्नान करके चले, सब लोग यमुना पार होने लगे॥६॥ (तब) हे नाथ! हमें स्वामीने खबर लेनेको भेजा। उन्होंने (दूतोंने) ऐसा कहकर पृथ्वीपर माथा नवाया अर्थात् प्रणाम किया॥७॥ मुनिश्रेष्ठने तुरत कोई छः-सात किरात साथ देकर दूतोंको तुरत विदा किया॥८॥

नोट—१ *'दुघरी साधि चले ततकाला।'''* इति। (क) वैशाख शु० १४ गुरुवारको दूत श्रीअयोध्याजीसे लौट आये। उस दिन स्वाती नक्षत्र था, यात्राका कोई योग न था; अतएव शिवमतसे द्विघटिका शोधकर चले। (वै०) (ख) 'महिपाल' हैं, अतः पृथ्वीकी रक्षाका इतना खयाल रखते हैं कि मुकामतक न किया। पुनः, भाव यह कि ऐसे बड़े राजा होकर भी विश्राम न किया, प्रेममें दौड़े चले ही आये।

नोट—२ *'भोरहिं आजु नहाइ प्रयागा।'''* इति।—पंजाबीजी कहते हैं कि इससे जनाया कि प्रयागमें रातको रहे थे और कहीं नहीं ठहरे थे। पर इससे जरूरी नहीं कि वहाँ ठहरना मान ही लिया जाय। वहाँ स्नान करना कहते हैं, रात चाहे मार्गमें बीती हो।

नोट—३ *'तिन्ह कहि अस महि नाएउ माथा'* इति। बड़ोंके सामने बात करनेमें आदि और अन्तमें प्रणाम करना शिष्टाचार है। अब प्रणाम करके जनाया कि जो कुछ कहना था वह कह चुके, अब चलनेकी आज्ञा हो।

नोट—४ *'छ सातक'* दिये जिसमें जनकसमाजको आरामसे ला सकें। पुनः, आदर सम्मानार्थ इतने दिये नहीं तो चाहे एक-दो ही देते। खर्रेमें एक भाव यह भी दिया है कि छ+सात=१३ किरात दिये, क्योंकि 'तेरहु+त' नाथको लाना है—पर यह केवल पाण्डित्य है।

नोट—५ दूतोंका उत्तर यहाँ समाप्त हुआ। *'सुनि सकुचाइ नाइ महि माथा। बोले'''* (२७०। ७) उपक्रम और *'तिन्ह कहि अस महि नायउ माथा।'* (२७२। ७)। उपसंहार है। दूतोंका प्रसङ्ग *'जनकदूत तेहि अवसर आए'''बोलाए।'* (२७०। ४) से *'मुनिबर तुरत बिदा चर कीन्हे।'* (२७२। ८) तक है। पूर्व सभाका प्रसङ्ग *'चुपहि रहे रघुनाथ सँकोची।'''* (२७०। ३) पर छूटा था, उसी प्रसङ्गको मिलाकर यहाँ सभाकी समाप्ति कहते हैं—*'रघुनंदनहिं सकोच बड़ सोच बिबस सुरराज।'* (२७२) ☞ चित्रकूट प्रथम दरबार समाप्त हुआ।

दो०—सुनत जनक आगवनु सबु हरषेउ अवधसमाजु।
रघुनंदनहि सकोच बड़ सोच बिबस सुरराजु॥२७२॥

गरइ गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहइ केहि दूषनु देई॥ १॥
अस मन आनि मुदित नर नारी। भयेउ बहोरि रहब दिन चारी॥ २॥
एहि प्रकार गत बासर सोऊ। प्रात नहान लाग सबु कोऊ॥ ३॥

शब्दार्थ—'गरइ'=गली जाती है, शरीर क्षीण होता है, सङ्कुचित और लज्जित हो रही है।

अर्थ—श्रीजनकमहाराजका आगमन सुनकर सब अवधसमाज प्रसन्न हुआ। रघुनन्दन श्रीरामजीको बड़ा सङ्कोच हुआ और इन्द्र तो बड़े ही शोचमें पड़ गये॥ २७२॥ कुटिला कैकेयी ग्लानिसे गली जाती है। किससे कहे और किसे दोष देवे? (अर्थात् अपना ही सब कर्तव्य है तो रोवे किससे; कोई उसकी तरफ नहीं, सभीसे उसने शत्रुता कर ली तब कहे भी तो किससे, कौन उसके दर्दको सुनेगा)॥ १॥ स्त्री-पुरुष मनमें ऐसा विचारकर प्रसन्न हो रहे हैं कि फिर चार (कुछ) दिन रहना हुआ (नहीं तो आज ही श्रीरामजीने सबको बिदा कर दिया होता)॥ २॥ इस प्रकार वह भी दिन बीत गया। दूसरे दिन सबेरे सब कोई स्नान करने लगे॥ ३॥

नोट—१ *'हरषेउ अवधसमाजु। रघुनंदनहिं सकोच·····'* इति। (क) अवधसमाजको हर्ष यह समझकर हुआ कि अब जनकमहाराज अवश्य लौटा ले जावेंगे, नहीं भी लौटे तो कम-से-कम चार-छः दिन तो और रहनेको अवश्य ही मिला, यही बात कवि कहते हैं—*'भयेउ बहोरि रहब दिन चारी।'* श्रीरघुनाथजीको सङ्कोच कि श्वशुर पिताके समान हैं, ये लौटनेको कहेंगे तब कैसे बनेगी। सङ्कोच तो भरतके ही आनेपर हुआ था अब ये भी आ गये, इससे अधिक हो गया; अतएव *'बड़ सकोच'* कहा। इन्द्र सोचमें डूब ही गया कि *'एक न शुद दो शुद'*, अभी तो एक भरतको ही झखते थे अब तो एक और आ गये जिनकी आज्ञा श्रीरामजी टाल नहीं सकते। (ख) *'हरषेउ अवधसमाजु'* की व्याख्या आगे है।

नोट—२ *'गरइ गलानि कुटिल कैकेई।'* *'कुटिल'* से जनाया कि अपनी कुटिलतापर पछता रही है कि हमने बुरा किया, हमसे बड़ी भारी चूक हुई, अब मैं समधिनियों आदिको कैसे मुँह दिखाऊँगी।

टिप्पणी १ पु०रा० कु०— शरीर क्षीण होता है मानो पाप छूटता जाता है। अन्तःकरणमें अपनी चूकका पश्चात्ताप होनेसे पाप क्षीण हो जाता है। *'काहि कहइ·····'* अर्थात् सोचती है कि महत्सभामें क्या जवाब दूँगी। मंथरा जातिकी चेरी; उसको क्या दोष दूँ, कोई बड़ा आदमी होता तो उसकी आड़ भी ले सकती कि उनके कहनेसे मैंने ऐसा किया, इसका नाम लें तो लोग और भी हँसेंगे। और *'काहि कहइ·····'* से ग्लानिकी अधिकता दिखायी। पृथ्वीसे बीच माँगा, यमसे मृत्यु; सो भी न मिली, तब अब किससे कहे। इस तरह लाचारी वा विवशता दिखायी।

टिप्पणी २— *'एहि प्रकार गत बासर सोऊ'* अर्थात् इस तरह मनोराज करते-करते दिन-रात बीत गयी। 'बासर' से २४ घंटेकी दिनरातसे तात्पर्य है।

करि मज्जनु पूजहिं नर नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी॥ ४॥
रमारमनपद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी॥ ५॥
राजा रामु जानकी रानी। आनँद अवधि अवध रजधानी॥ ६॥
सुबस बसउ फिरि सहित समाजा। भरतहि रामु करहु जुबराजा॥ ७॥

शब्दार्थ—'अंचल'—साड़ीका वह छोर या भाग जो सिरपरसे होता हुआ छातीपर फैला रहता है, छोर, पल्ला।

अर्थ— स्नान करके सब स्त्री-पुरुष गणेशजी, गौरीजी (देवी), त्रिपुरके शत्रु महादेवजी और सूर्यकी पूजा करते हैं॥ ४॥ फिर लक्ष्मीपति विष्णुभगवान्‌के चरणोंकी वन्दना करके पुरुष हाथ जोड़कर और (स्त्रियाँ) आँचल पसारकर विनती करती हैं कि॥ ५॥ श्रीराम राजा हों, श्रीजानकीजी रानी हों, आनन्दकी सीमा ऐसी,

अवधराजधानी फिरसे समाजसहित सुखपूर्वक स्वतन्त्ररूपसे बसे और श्रीरामचन्द्रजी श्रीभरतजीको युवराज बनावें॥ ६-७॥

टिप्पणी पु० रा० कु०—१ *'करि मज्जन पूजहिं नर नारी। गनप……'* इति। (क) अवधवासी पञ्चदेवके उपासक हैं। जो जिसका उपासक है उसीकी पूजा करता है। गाणपत्य, शाक्त, शैव और सौर्य अपने-अपने इष्टसे प्रार्थना करते हैं। अथवा, (ख) पूजनका क्रम बताया कि किस क्रमसे पूजते हैं। पञ्चदेवकी उपासना करके तब रामभक्ति माँगते हैं, फलके विषयमें सबकी अनन्यता है। सबसे विनय करके यह माँगना कि *'बसहु रामसिय मानस मोरे'*, *'देहि मा मोहि पन प्रेम यह नेम निज नाम घनश्याम तुलसी पपीहा'*, *'रघुपतिपद परम प्रेम तुलसी चहै अचल नेम देहु ह्वै प्रसन्न पाहि प्रनतपालिका'*, *देहि कामारि श्रीराम पदपंकजे भक्ति भवहरनि गतभेद माया'*, *'गिरिजामनमानस मराल कासी समसान निवासी। तुलसिदास हरिचरन कमल वर देहु भक्ति अविनासी'*, *'देहु कामरिपु रामचरनरति तुलसिदास कहुँ कृपानिधान'* और *'तुलसी रामभक्ति बर मागै'*—जैसा कि विनयपत्रिकामें गोस्वामीजीने माँगा है—अनन्यता ही है। यह उपासना पञ्चदेवोंकी नहीं हुई किन्तु अपने इष्टकी हुई। (ग) ये देवता सब श्रीरामजीके अनन्य उपासक हैं, इस सम्बन्धसे इनका पूजन करके उनसे रामप्रेम माँगते हैं। बालकाण्डके मङ्गलाचरणमें इसपर बहुत कुछ भाव कहे जा चुके हैं।

टिप्पणी—२ *'आनँद अवधि अवध रजधानी'* इति। *'आजु सकल सुकृतफल पाइहौं। सुखकी सींव अवधि आनंद की अवध बिलोकिहौं जाइ हौं।'* (गी० १। ४६) विश्वामित्रजीके इस वाक्यसे मिलान कीजिये।

टिप्पणी—३ *'सुबस बसउ फिरि सहित समाजा।……'* इति। (क) राजाके सात प्रधान अङ्ग हैं। इसके अतिरिक्त और भी अङ्ग हैं, सहित समाजसे उन्हीं अङ्गोंसे तात्पर्य है। *'सुबस बसउ'*, यथा—*'सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई।'* (३६। ३) देखिये। श्रीदशरथजीने जो भविष्य कहा था कि *'सुबस बसिहि फिरि'* वही ये सब भी माँग रहे हैं। *'फिरि'* का भाव कि इस समय अवध उजाड़ हो गया है और अनाथ है; यथा—*'अवध उजारि कीन्हि कैकेईं। दीन्हिसि अचल बिपति कै नेईं॥'* (२९। ८)' *'अवध सुहाई'*—भाव कि इस समय वह भयावन है, यथा— *'लागति अवध भयावनि भारी।'* (८३। ५) वह सुहावनी होकर बसे। (ख) *'भरतहिं रामु करहु जुबराजा'* इति। भाव कि राजाके साथ ही युवराज भी बना लें जैसे *'राज दीन्ह सुग्रीव कहँ अंगद कहँ जुबराज।'* पीछे युवराज बनानेमें उलझनका भय भी रहता जैसे अबकी अनर्थ खड़ा हो गया, दूसरे जब लड़के होंगे तब इनको राज्य क्यों मिलने लगा। इससे भरतपर प्रेम और कृतज्ञता दिखाते हैं।

नोट— रा० प्र० का मत है कि 'करहिं' की जगह 'करहु' प्रेमकी विह्वलताके कारण लिखा गया; इसी तरह लक्ष्मणवाक्यमें *'सोवहु सेज दोउ भाई'* कहा है। विशेष २३० (४) में देखिये।

एहि सुख सुधा सींचि सब काहू। देव देहु जग जीवन लाहू॥ ८॥

दो०—गुर समाज भाइन्ह सहित रामराजु पुर होउ।
अछत राम राजा अवध मरिअ माँग सबु कोउ॥ २७३॥

शब्दार्थ—सुधा=अमृत=जल, यथा—*'मुए करइ का सुधा तड़ागा।'*

अर्थ— हे देव! इस सुखरूपी अमृत-जलसे सबको सींचकर संसारमें जन्म लेनेका लाभ दीजिये॥ ८॥ गुरु, समाज और भाइयोंसहित श्रीरामजीका राज्य अवधपुरीमें हो और श्रीरामजीके राजा रहते श्रीअयोध्याजीमें ही हमारी मृत्यु हो—सब कोई यही (वरदान) माँगते हैं॥ २७३॥

नोट—*'एहि सुख सुधा सींचि…'* इति। (क) पञ्चदेवोंसे प्रार्थना करते हैं कि हम सब लोग विरहतापसे अभीतक संतप्त रहे, अब इस सुखसुधाजलसे सबको तर करके शीतल कर दीजिये। (ख) *'देहु जग जीवन लाहू'*—भाव कि संसारमें जन्म पानेका लाभ यही है। मिलान कीजिये—*'सियराम सुरूपु अगाध अनूप बिलोचन मीनन को जलु है। श्रुति रामकथा मुख राम को नाम हिये पुनि रामहिं को थलु है। मति रामहि सों गति रामहिं सों रति राम सों रामहि को बलु है। सबकी न कहै तुलसी के मते एतनो जग जीवनुको फलु है॥'*

(क० उ० ३७) *'राम सनेही रामगति रामचरन रति जाहि। तुलसी फल जग जनम को दियो बिधाता ताहि॥'* (दो० ५८) (ग) राज्याभिषेक-प्रसङ्गके पूर्व भी पुरवासी आदि श्रीरामजीके बलवान्, दीर्घजीवी, नीरोग आदिकी कामना करते रहे हैं। स्त्रियाँ प्रातः और सायंकाल शुद्ध और स्वस्थ होकर मनस्वी श्रीरामचन्द्रजीके कल्याणके लिये देवताओंको नमस्कार करती रही हैं। यथा—'**आशंसते जनः सर्वो राष्ट्रे पुरवरे तथा।''''स्त्रियो वृद्धास्तरुण्यश्च सायं प्रातः समाहिताः। सर्वा देवान्नमस्यन्ति रामस्यार्थे मनस्विनः।**' (वाल्मी० २। २। ५१-५२) वैसे ही इस समय भी सब देवताओंसे इस मङ्गलकी याचना करते हैं। (घ) *'गुर समाज'* के दो प्रकारसे अर्थ किये जाते हैं—एक गुरु और राजसमाज राजाके शेष छः प्रधान अङ्ग सम्पूर्ण, दूसरे गुरुजनोंका समाज अर्थात् गुरु-माता आदि।

मा० हं०— गोस्वामीजी स्वधर्मके लिये सुदेश और सुराज्यके समर्थक थे। परंतु वे इतनेमें ही संतुष्ट न थे। वे कहते हैं कि सुदेशमेंका सुराज्य भी सुतन्त्र चाहिये। इसे उन्होंने इस प्रकार दर्शाया है—*'राजा राम जानकी रानी। आनँद अवधि अवध रजधानी॥', 'सुबस बसउ फिरि सहित समाजा।'* इसका सारांश है—(अयोध्याकी प्रजा कहती है) आनन्दकी सीमा अयोध्या ही राजधानी रहे और हम सब प्रजाओंसहित राजा राम और रानी जानकीजी वहाँ सुतन्त्र रहें।

गोसाईंजीकी इस भावनाकी उत्कटता कैसी आश्चर्यजनक है वह *'एहि सुख सुधा सींचि सब काहू।'''* इत्यादिसे स्पष्ट है।

इस वर्णनसे दो बातें बड़ी ही महत्त्वकी निकलती हैं। १—स्वतन्त्रताके लिये ईश्वरोपासन यही गोसाईंजीके मतसे नित्य कर्मका हेतु दिखायी देता है। २— स्वतन्त्रतामें अर्थात् सुदेशोंके सुराज्यमें मरना ही उनके मतसे जीनेका सच्चा लाभ है। इस लाभसे विरहित केवल मोक्षाधिकारकी प्राप्ति भी उन्हें अभीष्ट नहीं मालूम होती।

वहाँतक गोसाईंजीने स्वधर्मके लिये सुदेश, स्वराज्य और सुतन्त्रताकी त्रयी लोकशिक्षाकी दृष्टिसे आवश्यकता बतलायी है। अन्तमें उन्होंने एक अपूर्व बात निर्दिष्ट की है जो यह है—*'जौं अनीति कछु भाषउँ भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥'* हम जिसे अपूर्व बात कहते हैं वह स्वामीजीका राजवर्जन है। राजा अनीति सिखलानेवाला हुआ तो प्रजाको क्या हक है, यह उन्होंने इसमें बतलाया है। इस प्रकारसे हमें स्वामीजी स्वधर्मके लिये अपने समाजशिक्षा शास्त्रकी जो चतुःसुत्री दे गये हैं वह यह है— सुदेश, सुराज्य, स्वतन्त्रता और राजवर्जन।

सुनि सनेहमय पुरजन बानी। निंदहिं जोग बिरति मुनि ग्यानी॥ १॥
एहि बिधि नित्य करम करि पुरजन। रामहिं करहिं प्रनाम पुलकि तन॥ २॥
ऊँच नीच मध्यम नर नारी। लहहि दरसु निज निज अनुहारी॥ ३॥
सावधान सबहीं सनमानहिं। सकल सराहत कृपानिधानहिं॥ ४॥
लरिकाइहि तें रघुबर बानी। पालत नीति प्रीति पहिचानी॥ ५॥

शब्दार्थ—अनुहारी=योग्य, उपयुक्त, अनुकूल, मुताबिक, यथा—*'बर अनुहारि बरात न भाई', 'सुकबि कुकबि निज मति अनुहारी। उत्तम मध्यम नीच लघु निज-निज थल अनुहारि॥'* बानी=वाणी=बानि, स्वभाव, टेक।

अर्थ—अवधवासियोंकी प्रेमपूर्ण वाणी सुनकर ज्ञानी मुनि अपने वैराग्य और योगकी निन्दा करते हैं॥ १॥ इस प्रकार अवधवासी अपना नित्य कर्म करके श्रीरामचन्द्रजीको पुलकित-शरीर होकर प्रणाम करते हैं॥ २॥ ऊँच, नीच और मध्यम सभी श्रेणियोंके स्त्री-पुरुष अपने-अपने अधिकार और भावके अनुसार प्रभुका दर्शन पाते हैं॥ ३॥ प्रभु सावधान होकर सबका सम्मान करते हैं, सभी कृपानिधान रामचन्द्रजीकी सराहना करते हैं॥ ४॥ लड़कपनसे ही रघुवरकी यह टेव है कि वे प्रेम पहचानकर नीतिका पालन करते हैं॥ ५॥

नोट १—*'निंदहिं जोग बिरति मुनि ग्यानी'''* इति। (क) अर्थात् अपने ज्ञान-वैराग्यकी निन्दा करते हैं, ऐसे हमारे ज्ञान और वैराग्य अष्टाङ्गयोगको धिक्कार है कि हममें प्रेमका लेश नहीं और इन अवधवासियोंमें इतना प्रेम! योग-वैराग्यसे हरि मिलते हैं पर प्रेमसे वे शीघ्र प्रसन्न होते हैं—*'उमा जोग जप ज्ञान तप*

नाना ब्रत अरु नेम। राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निःकेवल प्रेम॥' (६। ११६) *'जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू॥'* पुनः, (ख) भाव कि योग-वैराग्यमें हमें भगवान् नहीं मिलते और ये लोग भगवान्‌के लिये देवताओंसे प्रार्थना करते हैं। (दीनजी)

वि० त्रि०— भाव यह है कि जैसा सुन्दर योग और वैराग्यका परिपाक प्रेममें बिना जाने हो जाता है, वैसा परिपाक जान-बूझकर स्वातन्त्र्येण करनेसे नहीं होता जैसी आनन्दमयी ध्यान-धारणा इन लोगोंकी हो रही है, वैसी क्या योगियोंकी होती है? *'अछत राम राजा अवध मरिअ माँग सब कोउ'* क्या यह राग वैराग्यसे करोड़ों गुणा बढ़कर नहीं है?

नोट—२ *'एहि बिधि नित्य करम करि पुरजन।'''''* ' इति। (क) यह पुरवासियोंका नित्यका कर्म दिखाया। *'करि मज्जन पूजहिं नरनारी।'* (२७३। ४) से २७४ (३) तक। (ख) *'पुलकि तन'* श्रीरामजीके स्मरण आदिमें पुलकित होना आवश्यक है। यह पूर्व कई बार लिखा जा चुका है। यथा—*'रामहिं सुमिरत'''''।'* (दोहावली ४२) (ग) *'लहहिं दरसु निज निज अनुहारी।'* अर्थात् जिसका जैसा अधिकार है। ऊँच, नीच, मध्यम अर्थात् ब्राह्मण, शूद्र और क्षत्रिय, वैश्य। अथवा, जो महाराज दशरथके सम्बन्धमें हैं वे ऊँच, जिनको रघुनाथजी पुत्रकोटिमें मानते हैं वे नीच और जिनको भ्रातृ-सम्बन्धमें मानते हैं वे मध्य हैं। ये सब अपने-अपने अनुसार दर्शन पाते हैं। अर्थात् बड़े बालक मानकर दर्शन करते हैं, मध्य सखा मानकर और नीच स्वामी या पिता मानकर। (रा० प्र०)

नोट—३ *'सावधान सबहीं सनमानहिं।'''* ' यथा— *'बड़ी साहिबीमें नाथ बड़े सावधान हो।'* (क० ७। १२६) यथार्थ सम्मान करनेमें 'कृपानिधान' विशेषण दिया। अर्थात् ये कृपाके सागर या खजाना हैं, अपनी कृपासे सबका आदर करते हैं।

पु० रा० कु०— (अर्थ) नीति और प्रीतिको पहिचानकर पालते हैं अर्थात् जिसमें जैसी नीति है उसके साथ उस नीतिका पालन करते हैं और जिसकी जैसी प्रीति है उसके प्रेमका पालन करते हैं। वा, नीति, प्रीति, पहिचान तीनोंको पालते हैं, कोई बिगड़ने नहीं पाते।

प० प० प्र०— *'पालत नीति प्रीति पहिचानी'* इति। इसका सम्बन्ध *'सावधान सबहीं सनमानहिं'* से है। बालकाण्डमें जो कहा है कि *'गनी गरीब ग्रामनर नागर। पंडित मूढ़ मलीन उजागर॥ सुकबि कुकबि निज मति अनुहारी। नृपहि सराहत सब नर नारी॥ साधु सुजान सुसील नृपाला। ईस अंश भव परम कृपाला॥ सुनि सनमानहिं सबहि सुबानी। भनिति भगति नति गति पहिचानी॥ यह प्राकृत महिपाल सुभाऊ। जान सिरोमनि कोसलराऊ॥ रीझत राम सनेह निसोते।'* (१। २८। ६—११) वही सब *'सावधान सनमानहिं'* से कहा है। यहाँ भी *'पालत नीति प्रीति पहिचानी'* इत्यादि कहा है।

सील सकोच सिंधु रघुराऊ। सुमुख सुलोचन सरल सुभाऊ॥ ६॥
कहत राम गुनगन अनुरागे। सब निज भाग सराहन लागे॥ ७॥
हम सम पुन्यपुंज जग थोरे। जिन्हहिं रामु जानत करि मोरे॥ ८॥
दो०—प्रेम मगन तेहि समय सब सुनि आवत मिथिलेसु।
सहित सभा संभ्रम उठेउ रबिकुल कमल दिनेसु॥ २७४॥

शब्दार्थ—**सुमुख**=सुन्दर प्रसन्न वदन, मिष्टभाषी। **सुलोचन**=कृपा भरे हुए सुन्दर नेत्र। **संभ्रम**=उतावली, उत्कण्ठा और उत्साहसे, आदर और पूज्य भावसे—*'सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी। संभ्रम चलि आईं सब रानी॥'* (१। १९३। १) 'समौ संवेगसंभ्रमावित्यमरः।'

अर्थ— श्रीरघुनाथजी शील और संकोचके समुद्र हैं। सुन्दर प्रसन्नमुख एवं मधुरभाषी, सुन्दर नेत्रवाले (शील-कृपारूपी जल भरे हुए) और सरल स्वभाव हैं। (फिर ऐसा क्यों न करें) ॥ ६॥ श्रीरामचन्द्रजीके गुणोंको कहते-कहते सब प्रेममें भर गये और सभी अपने भाग्यकी बड़ाई करने लगे॥ ७॥ हमारे समान

पुण्य-समूहवाले जगत्‌में बहुत कम होंगे कि जिन्हें श्रीरामजी अपना (ये मेरे हैं ऐसा) करके जानते हैं॥ ८॥ उस समय सब लोग प्रेममें मग्न हैं, इतनेमें ही श्रीजनक महाराजको आते हुए सुनकर सूर्यकुलरूपी कमलके सूर्य श्रीरामचन्द्रजी सभासहित आदरपूर्वक उत्साहित हो शीघ्रतासे उठ गये॥ २७४॥

नोट—१ (क) *'सील सकोच सिंधु।'* अर्थात् सबका शील-संकोच यथातथ्य रखते हैं। यथा—*'सीलसिंधु सुंदर सब लायक समरथ सदगुनखानि हौ। पाल्यो है पालत पालहुगे प्रीति रीति पहिचानिहौ। २। बेद पुरान कहत जग जानत दीनदयाल दिनदानि हौ॥'* (वि० २२३) (ख) *'सुमुख'* में कई भाव हैं।—(१) प्रसन्न वदन है, कभी अपने दुःख-सुख या किसीके अपराधसे मुखकी प्रसन्नता नहीं मिटने पाती, यथा **'प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।'** *'अपराधिहु पर कोह न काऊ।'* (२) मधुर मृदु वाणी, और (३) मनहरण सौन्दर्य। *'सुलोचन'*—नेत्रोंमें शील होना उनकी सुन्दरता है। कृपादृष्टिसे सबको देखना जनाया। एवं यह कि नेत्रकी चेष्टा भी कभी नहीं बिगड़ती। *'सरल सुभाऊ'* भी है अर्थात् मुख, नेत्र आदि सुन्दर भी हों पर स्वभाव बुरा हो तो वह सौन्दर्य भी किसी कामका नहीं होता। इनका स्वभाव सौम्य, कोमल और निष्कपट है।

☞ नोट—२ *'कहत राम गुनगन अनुरागे।'*''' इससे जनाया कि प्रेम चाहते हो तो प्रभुके गुणोंका गान करो। श्रीरामगुणके गान, स्मरण और श्रवणसे अनुराग उत्पन्न होता है। यथा—*'तब हनुमंत कही सब रामकथा निज नाम। सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुन ग्राम॥'*— (सु० ६), *'सुनि सब राम कथा खगनाहा। कहत बचन मन परम उछाहा॥'''' भयउ रामपद नेह तव प्रसाद बायस तिलक।'* (७। ६८), *'हर हिय रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए॥'* (१। १११। ७) *'समुझि-समुझि गुनग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ।'* (वि० १००)

नोट—३ *'हम सम पुन्यपुंज जग थोरे।'* इति। (क) भाव कि ऐसे बहुत कम सुकृती होंगे, एवं जब हमारे समान कम मिलेंगे तब अधिककी तो चर्चा ही क्या? हमको राम अपना मानते हैं, यथा—*'अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी।'* (७।४।७) *'ममता जिन्हपर प्रभुहि न थोरी।'* (१।१६।२) यह बात औरोंमें मिलनी कठिन है। दोहावलीमें कहा है—*'सबै कहावत रामके सबहि रामकी आस। राम कहैं जेहि आपनो तेहि भजु तुलसीदास॥'* (दो० १४१) (प्र० सं०) पुनः भाव कि *'पुन्यपुंज मग निकट निवासी। तिन्हहि सराहहिं सुरपुर बासी॥ जे भरि नयन बिलोकहिं रामहिं। सीता लषन सहित घनश्यामहिं॥'* जिस रास्तेसे सरकार गये उसके निकट निवास करनेवाले ऐसे पुण्यपुञ्ज हैं कि उन्हें सुरपुरवासी सराहते हैं, ये तो रामजीकी प्रजा हैं, रामजीसे सम्मान पाते हैं। यथा—*'सावधान सबही सनमानहिं'*, तथा—*'ममता जिन्हपर प्रभुहि न थोरी।'* अतः उनके महान् पुण्यपुञ्ज होनेमें सन्देह ही क्या है? अपनेको पुण्यपुञ्ज कहकर प्रजावर्ग सरकारकी प्रशंसा करते हैं। (वि० त्रि०)

नोट—४ *'संभ्रम उठेउ रबिकुल कमल दिनेसु'*—सुष्ठुकुलवाला दूसरेका भी आदर करता है, ये रविकुलकमलके भी विकसित करनेवाले और जगत्‌को भी प्रकाशसे सुख देनेवाले हैं अतः ये क्यों न आगे जाकर उनको लावें। (पु० रा० कु०)

नोट—५ इस दोहेसे मिलता हुआ श्लोक पुलस्त्यसंहितामें यह कहा जाता है—**'जनकागमनं श्रुत्वा ससभ्यो रघुनन्दनः। उत्थितः सम्भ्रमात्सूर्यवंशपद्मप्रभाकरः॥'** (र० ब०) (हमारे पास यह ग्रन्थ नहीं है।)

'जनकजीका चित्रकूट-प्रवेश'

मा० हं०—जनकजीका चित्रकूट-प्रवेश अध्यात्म और वाल्मीकिरामायणोंमें नहीं है। उसके न रहनेके कारण व्यवहार बहुत ही शून्य दीख पड़ता है। इस शून्यताकी गोसाईंजीको बड़ी क्षति मालूम हुई, अतएव उन्होंने उसकी पूर्ति कर दी।* ''''इस जनक-प्रवेशके द्वारा अयोध्याकाण्डमें अन्तका भाग बहुत ही पठनीय

* साहित्यिक दृष्टिसे ऐसा कह सकते हैं पर यह प्रसंग किसी-न-किसी ग्रन्थमें अवश्य ऐसा मिलेगा। वह गोस्वामीजीकी गढ़न्त नहीं है। जैसे अन्य बहुत-से प्रसंग मिले हैं वैसे ही पौराणिक लोग इसे भी ढूँढ़ें।

और मननीय है। इसका कारण स्वामीजीके जनकजी *'सोह न रामप्रेम बिनु ग्याना'* अर्थात् भागवतके **'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्'**— इस तत्त्वके समर्थक हैं। यदि वे वैसे न होते तो चित्रकूट-शिखरका दर्शन होते ही *'करि प्रनाम रथ त्यागेउ तबहीं'* ऐसी चेष्टा उनकी देह कभी न दिखा सकती। २-जनकप्रवेशके पहले स्थल, लोक आदिका जो वर्णन है, वह इस प्रवेशकी मनोहरता बढ़ानेको, सत्यमें बहुत ही सहायक हुआ है; परंतु उस वर्णनमें जो स्वामीजीका अन्त:करण प्रतिबिम्बित हुआ है वही असलमें देखने योग्य है।

स्वामीजीने जनकजी और देवी सुनयनाका प्रवेश लिखकर चित्रकूटके जनकप्रवेशमें मानो प्राण ही भर दिया। उसमेंकी सीतादेवीके प्रशंसासे पाठकोंका आत्मा एकाएक विकसित होकर फिर भरतजीके प्रशंसासे एकदम प्रशान्त हो जाता है। इस प्रवेशके पढ़नेसे सहज ही कल्पना होती है कि यदि जनकजी राम-दर्शनसे विमुख रहते तो हमारे पाठकोंको बड़ी ही हानि पहुँचती। क्योंकि पाठकोंके लिये भरतजीके पारमार्थिक तत्त्वोंका निदर्शन करानेवाला और रामजीकी तुलना भरतजीसे करके प्रत्येकको विशेषता दिखानेवाला और भरतजीकी स्वतन्त्र योग्यता बतलानेवाला अधिकारसम्पन्न शिक्षक जनकजीके अतिरिक्त कोई भी चित्रकूटकी रङ्गभूमिपर उस समय उपस्थित नहीं था।

स्वामीजीके जनकजीके हम सब अत्यन्त ऋणी हैं इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इस विषयमें यदि हम स्वामीजीको ही परम कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद देवेंगे तो भी उनके जनकजी हमको अनृणी कर देवेंगे ऐसी आशा है। इसका कारण यही है कि जबसे जनकजी स्वामीजीकी दीक्षामें शरीक हो गये तबसे वे दोनोंसे अभिन्न भाव रहते हुए दिखाते हैं।

भाइ सचिव गुर पुरजन साथा। आगें गवनु कीन्ह रघुनाथा॥ १॥
गिरिबरु दीख जनकपति जबहीं। करि प्रनामु रथ त्यागेउ तबहीं॥ २॥
रामदरसु लालसा उछाहू। पथश्रम लेसु कलेसु न काहू॥ ३॥
मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही॥ ४॥
आवत जनकु चले एहि भाँती। सहित समाज प्रेम मति माँती॥ ५॥

शब्दार्थ—**केहि**=किसको।

अर्थ— भाई, मन्त्री, गुरु और पुरवासियोंको साथ लिये रघुनाथजी आगे चले॥ १॥ ज्यों-ही जनकराजने गिरिश्रेष्ठ कामतानाथका दर्शन पाया त्यों-ही उन्होंने प्रणाम करके रथ त्याग दिया और उतरकर पैदल चलने लगे॥ २॥ श्रीरामदर्शनकी लालसा और उत्साहके कारण मार्गका थकावट-सम्बन्धी क्लेश किसीको लेशमात्र जरा भी नहीं है॥ ३॥ मन तो वहाँ है जहाँ रघुबर-वैदेही श्रीसीतारामजी हैं। बिना मनके* शरीरके

---

* चित्तमेव हि संसारं तत्प्रयत्नेन शोधयेत्। यच्चित्तस्तन्मयो भाति गुह्यमेतत्सनातनम्॥ १॥ चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्। प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमक्षय्यमश्नुते॥ २॥ समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे। यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात्॥ ३॥ मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च। अशुद्धं कामसम्पर्काच्छुद्धं कामविवर्जितम्॥ ४॥ लयविक्षेपरहितं मन: कृत्वा सुनिश्चलम्। यदायात्यात्मनीभावं तदा तत्परमं पदम्॥ ५॥ तावन्मनो निरोद्धव्यं हृदि यावत्क्षयं गतम्। एतज्ज्ञानञ्च मोक्षञ्च शेषोऽन्ये ग्रन्थविस्तरा:॥ ६॥' (इति मैत्रायणीये)। पुनश्च—

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:। बन्धाय विषयासंगि मोक्षे निर्विषयं स्मृतम्॥ १॥ समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्। न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्त:करणे न गृह्यते॥ २॥' इति श्रुति:। (वन्दन पाठकजी)

अर्थात् चित्त ही संसार (जन्म-मरणका कारण) है अत: प्रयत्नपूर्वक उसीका संशोधन करना चाहिये। यह सनातन नियम है कि जैसा चित्त होता है चेतन तन्मय हो जाता है॥ १॥ चित्तके निर्मल होनेसे शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब निर्मल चित्तवाला अक्षय सुखका भोक्ता हो जाता है॥ २॥ प्राणियोंका चित्त जैसा विषयोंमें

दुःख-सुखकी खबर किसको हो (अर्थात् सुख-दुःखका अनुभव मनद्वारा होता है। जब मन दूसरी जगह आसक्त है तब थकावटके कष्टका अनुभव हो नहीं सकता)॥ ४॥ श्रीजनकमहाराज समाजसहित इस प्रकार चले आ रहे हैं, समाजसहित उनकी बुद्धि प्रेममें मतवाली (बेसुध) हो रही है॥ ५॥

नोट—१ श्रीभरतजीकी यात्रामें रामशैल-दर्शनके समयसे मिलाप-समय तक जो प्रेम वर्णन करके दिखाया है वही यहाँ जनकजीमें दिखा रहे हैं पर एक बार विस्तृत रूपसे लिख चुके हैं; इससे यहाँ न दुहराकर केवल उसकी छाया मात्र दिखाये देते हैं जिससे पाठक वही सब यहाँ भी समझ लें। आगे दिये हुए मिलानसे यहाँके भाव पूर्णरीतिसे समझमें आ जायँगे।

नोट—२ *'आगें गवनु कीन्ह।'* अर्थात् अगवानीके लिये चले। अगवानी करना उचित ही है, क्योंकि वे पिताके तुल्य हैं, *'जनकपति'*—निमिवंशी सभी जनक कहलाते हैं क्योंकि इनके पूर्वज पितासे ही उत्पन्न हुए थे, मातासे नहीं। कथा बा० २१४ में देखिये। वह कुल ही जनक कहलाता है, जैसे 'रघुपति'=रघुकुलके स्वामी, वैसे ही 'जनक-पति'=जनककुलके स्वामी।

श्रीजनकजी		श्रीभरतजी
		रामसखा तेहि समय देखावा। सैलसिरोमनि सहज सुहावा॥
गिरिबरु दीख जनकपति जबहीं। करि प्रनाम रथ त्यागेउ तबहीं॥	१	*'जासु समीप सरित पय तीरा। सीय समीप बसत दोउ बीरा॥ देखि करहिं सब दंड प्रनामा। कहि जय जानकिजीवन रामा॥'* (२। २२५)
रामदरस लालसा उछाहू। पथश्रम लेस कलेस न काहू॥	२	*'भरतहि सहित समाज उछाहू।'* (२२५। २)
मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही॥	३	*'मिलिहहिं राम मिटिहि दुखदाहू॥* (२२५। २)
आवत जनक चले एहि भाँती। सहित समाज प्रेम मति भाँती॥	४	*'जाहिं सनेह सुरा सब छाँके। सिथिल अंग मग पग डगि डोलहिं॥ बिह्वल बचन प्रेमबस बोलहिं॥'* (२२५। ३-४)
'सुनि आवत मिथिलेस''सहित सभा। संभ्रम उठेउ रघुकुल कमल दिनेस।	५	*'उठे राम सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥'* (२४०। ८)

आसक्त हो जाता है वैसा यदि परमात्मामें आसक्त हो जाय तो फिर कौन ऐसा है जो कि मायाबन्धनसे न छूट जाय॥ ३॥ अशुद्ध और शुद्ध भेदसे मन दो प्रकारका होता है, कामसम्पर्कवाला मन अशुद्ध और कामवासनारहित मन शुद्ध कहा जाता है॥ ४॥ मनको लय-विक्षेपरहित करनेसे उसमें जब निश्चलता आ जाती है तब परमात्मामें दृढ़ भावना होती है और तब उससे परमपदकी प्राप्ति हो जाती है॥ ५॥ जबतक मनका सारा संकल्प-विकल्प क्षय न हो जाय तबतक उसे हृदयमें यत्नपूर्वक रौंदनेकी चेष्टा करते रहना चाहिये, यही ज्ञान एवं मोक्षोपाय है। शेष बातें (मनःनिरोधके यत्न आदि) अन्य ग्रन्थोंमें विस्तारसे वर्णित हैं॥ ६॥

मनुष्योंके बन्धन एवं मुक्तिका कारण मन ही है, मनके विषयासक्त होनेसे जीवका बन्धन और विषयविरक्त होनेसे मोक्ष होता है॥ १॥ समाधिद्वारा जिसके चित्तका मल निकल गया है, उसको परमात्मामें लगनेपर जो सुख प्राप्त होता है वह वाणीद्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता, उस सुखको तो अन्तःकरण ही वहन कर सकता है॥

आए निकट देखि अनुरागे। सादर मिलन परसपर लागे॥ ६॥
लगे जनक मुनिजन पद बंदन। रिषिन्ह प्रनामु कीन्ह रघुनंदन॥ ७॥
भाइन्ह सहित रामु मिलि राजहि। चले लेवाइ समेत समाजहि॥ ८॥
दो०—आश्रम सागर सांतरस पूरन पावन पाथु।
सेन मनहुँ करुनासरित लिएँ जाहिं रघुनाथु॥ २७५॥

अर्थ—पास आये (तब सब परस्पर एक-दूसरेको) देखकर अनुरागसे भर गये और आदरपूर्वक आपसमें मिलने लगे॥ ६॥ श्रीजनकमहाराज मुनियोंके चरणोंकी वन्दना करने लगे और भाइयोंसहित रघुनन्दन श्रीरामजीने ऋषियोंको प्रणाम किया। भाइयोंसहित रामचन्द्रजी राजासे मिलकर उनको समाजसहित आश्रमको लिवा ले चले॥ ७-८॥ श्रीरामचन्द्रजीका आश्रम समुद्र है जो शान्तरसरूपी पवित्र जलसे पूर्ण भरा हुआ है। महाराज जनककी सेना (समाज) मानो करुणा नदी है, उसे रघुनाथजी (आश्रमसागरसे संगम कराने) लिये जाते हैं॥ २७५॥

नोट—*'रिषिन्ह प्रनामु कीन्ह रघुनंदन।'* इति। प्रणाम करनेमें *'रघुनंदन'* नाम दिया। रघुकुलकी मर्यादा रखकर उसका आनन्द बढ़ाते हैं। रघुकुलमें जन्म है, अतः शतानन्द आदि ऋषियोंको प्रथम प्रणाम करना योग्य ही है।

प० प० प्र०—*'भाइन्ह सहित रामु मिलि राजहि।'* इति। बालकाण्डमें श्रीरामजीका *'पितु कौसिक बसिष्ठ सम'* जानकर श्रीजनकजीका सम्मान करना और उनका भरतादिसे मिलकर आशीर्वाद देना पाया जाता है। पर यहाँ राजाका इनसे मिलना और आशीर्वाद देना नहीं लिखा गया है। यह क्यों? उत्तर यह है कि यहाँ राजा और उनका समाज *'प्रेम मति माती'* होकर चले आ रहे हैं, अतः वे कर्तव्याकर्तव्य भूल गये। श्रीरामजीने भाइयोंसहित प्रणाम किया, पर विदेहस्थितिमें होनेसे वे आशीर्वाद न दे पाये।

'आश्रम सागर सांतरस''''रघुनाथ' इति।

१ शान्तरस—यह काव्यके नव रसोंमेंसे एक रस है जिसका स्थायीभाव निर्वेद (कामादि वेगोंका शमन) है। २—'इस रसमें संसारकी अनित्यता, दुःखपूर्णता, असारता आदिका ज्ञान अथवा परमात्माका स्वरूप आलम्बन होता है; तपोवन, ऋषि, आश्रम, रमणीय तीर्थादि, साधुओंका सत्सङ्ग आदि उद्दीपन; रोमाञ्च आदि अनुभव तथा निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मति, दया आदि संचारीभाव होते हैं। 'शान्त' को रस कहनेमें यह बाधा उपस्थित की जाती है कि यदि सभी मनोविकारोंका शमन ही शान्त है, तो विभाव, अनुभाव और संचारीद्वारा उसकी निष्पत्ति कैसे हो सकती है? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि शान्त दशामें जो सुखादिका अभाव कहा गया है, वह विषयजन्य सुखका है। योगियोंको एक अलौकिक प्रकारका आनन्द होता है जिसमें सञ्चारी आदि भावोंकी स्थिति हो सकती है। नाटकमें आठ ही रस माने जाते हैं, शान्त रस नहीं माना जाता। कारण यह कि नाटकमें अभिनय-क्रिया ही मुख्य है; अतः उसमें शान्तका समावेश (जिसमें क्रिया, मनोविकार आदिकी शान्ति कही जाती है) नहीं हो सकता।'—(शब्दसागर)

यहाँ समअभेद साङ्गोपाङ्गरूपकद्वारा उत्प्रेक्षा की गयी है। आश्रम साधुओं, तपस्वियों, ऋषियों, मुनियोंकी कुटीको कहते हैं। यहाँ प्रभु उदासी, तपस्वी-वेषमें हैं ही। शान्तरसरूपी जलसे पूर्ण कहा; क्योंकि यहाँ उन्हींका निवास है जिनको सारे संसारसे निर्वेद उपजा है, जिनमें क्रोध आदि मनोविकारोंका लेश नहीं, जिनका समय परमार्थचिन्तन भगवत्कथा-वार्ता सत्सङ्गमें ही जाता है, प्रपंचमें नहीं। यथा— *'जहाँ बैठि मुनिगन सहित नित सियराम सुजान। सुनहिं कथा इतिहास सब आगम निगम पुरान॥'* (२३७) नारायणसंहितामें **'रामः प्रणम्य जनकं मुनीन् सर्वान् प्रणम्य च। निजाश्रमोदधिं शान्तरसनीरप्रपूरितम्॥ करुणासरितं सेनां गृहीत्वा याति राघवः।'** यह श्लोक कहा जाता है (र० ब० की टीकामें यह श्लोक है, हमें यह ग्रन्थ नहीं मिला)।

देखिये गोस्वामीजीके दोहेमें 'पावनपाथ' कैसा उत्तम है। ले जानेका कारण यह है कि इस नदीको शान्ति मिले, इसकी करुणा मिटे।

सेनाको करुणा नदी कहा, क्योंकि वह शोकसे परिपूर्ण है। यहाँ कोई खास नदीका नाम नहीं दिया है। पर 'रघुनाथ' पदसे गङ्गाका अध्याहार किया जा सकता है। ऐसा करनेसे उसमें विचित्रता आ जाती है; क्योंकि भगीरथराजा गङ्गाको साथ लाये। आगे-आगे आप पीछे-पीछे गङ्गाजी, वैसे ही यहाँ रघुनाथजी आगे-आगे हैं और सारा समाज साथ ही पीछे-पीछे चल रहा है। भगीरथजी गङ्गाजीको सागरमें ले गये जहाँ सगरके ६० हजार पुत्र भस्म हुए पड़े थे और श्रीरामजी इनको तपस्वियोंसे सुशोभित उदासीन शान्त आश्रमको लिये जा रहे हैं। भगीरथजी भी 'रघुनाथ' (=रघुवंशीराजा) थे और ये भी रघुकुलके नाथ हैं।

यहाँपर सुचतुरकविचूड़ामणि गोस्वामीजीका 'सागर' शब्दका दोहेमें प्रयोग करना भी अभिप्राय-गर्भित और चमत्कृत है। सागर श्रीरघुनाथजीके पूर्व पुरुषोंहीका निर्माण किया हुआ है और वहीं भगीरथजी गङ्गाको ले गये थे।

बोरति ग्यान बिराग करारें। बचन ससोक मिलत नद नारें॥ १॥
सोच उसास समीर तरंगा। धीरज तट तरुबर कर भंगा॥ २॥
बिषम बिषाद तोरावति धारा। भय भ्रम भवँर अवर्त अपारा॥ ३॥
केवट बुध बिद्या बड़ि नावा। सकहिं न खेइ ऐंक* नहिं आवा॥ ४॥
बनचर कोल किरात बिचारे। थके बिलोकि पथिक हियँ हारे॥ ५॥
आश्रम उदधि मिली जब जाई। मनहु उठेउ अंबुधि अकुलाई॥ ६॥

शब्दार्थ—**तोरावति** (सं० त्वरावती)=वेगवती, तेज। **अवर्त्त** (आवर्त्त=बार-बार आना)=घुमाव, चक्कर। थोड़ी दूरमें जो जल घूमता है जिसके बीचमें गढ़ा होता है वह भँवर और आवर्त्त वह है जिसका कई बीघोंतक घुमाव होता है। **ऐंक**=अटकल, अन्दाज। दीनजी कहते हैं कि कहाँ कितना पानी है, किधरसे नाव ले जाना चाहिये, इस प्रकारके अन्दाज लगानेको केवटलोग 'अइकना' कहते हैं। वही शब्द गोस्वामीजीने यहाँ प्रयुक्त कर दिया है।

अर्थ— यह करुणा नदी ज्ञान-वैराग्यरूपी किनारोंको डुबाती जाती है, शोकभरे वचन नद और नाले हैं जो इसमें मिलते जाते हैं॥ १॥ शोच और लम्बी ऊर्ध्व श्वासें वायु और लहरें हैं † जो धैर्यरूपी तटके बड़े-बड़े वृक्षोंको गिराती जाती हैं॥ २॥ भयानक विषाद ही उस नदीकी वेगवती धारा है। भय और भ्रम अगणित भँवर और उसके चक्कर (वा भँवरके अनेक चक्कर) हैं॥ ३॥ पंडित लोग इसके मल्लाह हैं। उनकी बड़ी विद्या ही बड़ी नाव है। परन्तु वे खे नहीं सकते हैं; क्योंकि इस नदीका अटकल नहीं मिल रहा है॥ ४॥ वनके विचरनेवाले बेचारे कोल-किरात पथिक हैं। वे इसे देखकर हृदयमें हारकर थक रहे (स्तब्ध हो गये)॥ ५॥ जब यह करुणानदी आश्रमसमुद्रमें जा मिली, तब समुद्र मानो क्षुब्ध (आकुल) हो उठा। अर्थात् सम्भ्रम-समादर-समवेदना आदि मनोविकारोंके उदयोत्कर्षसे वहाँ बड़ा कोलाहल हुआ॥ ६॥

नोट—१ कोपभवनमें कैकेयीके कुपित होकर उठ खड़ी होनेपर रोषनदीका रूपक दिया गया था॥ (३४। १—४) देखिये। वैसे ही यहाँ करुणानदीका रूपक है। पर वहाँ नदी, नदीका जल, उत्पत्तिस्थान, किनारे, धारा, भँवर, तटके वृक्ष, सागरमें मिलना ये अङ्ग कहकर रूपककी समाप्ति की थी। यहाँ इन अङ्गोंको कहा और कुछ अधिक भी—नाव, केवट, पथिक (यात्री)। इसका कारण यह है कि वहाँ तो समुद्रमें डुबाना ही था—'*चली बिपति बारिधि अनुकूला।*' विपत्तिमें पड़कर उससे फिर निकलना, न हुआ। और, यहाँ यह

* 'ऐंक'— (राजापुर) पाठान्तर—'ऐक'।

† वा, सोचमें जो लंबी साँस लोग भरते हैं, वे वायुके झँकोरेसे उठनेवाली लहरें हैं।

नदी शान्तरसमें जाकर मिलेगी, वहाँ इस करुणाकी शान्ति होगी; उसीके उपाय नाव केवट आदि भी कहे गये।

नोट—२ नदी बाढ़से तटोंको डुबा देती है। उसमें अन्य नदियाँ और नाले आकर मिलते हैं जिससे उसकी धारा और तीव्र हो जाती है, तीव्रधारा (और उसमें यदि हवा तेज हुई तब तो नदी) बहुत काट करने लगती है, तटके वृक्षोंको जड़से उखाड़कर बहा ले जाती है। नदीमें बाढ़ आनेपर भँवर और उसके चक्कर बहुत पड़ते हैं जिनमें मनुष्य, नाव आदि पड़ जायँ तो बच नहीं सकतीं। ऐसी बढ़ी हुई भयंकर नदीमें केवटका साहस भी नहीं होता कि नावको खेकर मुसाफिरोंको पार ले जाय। यही सब यहाँ क्रमसे दिखाये हैं। समाजमें करुणा इतनी बढ़ी कि ज्ञान और वैराग्य उसमें डूब गये, ज्ञानी-वैरागी भी करुणासे पूर्ण हो गये, करुणा-ही-करुणा दिखायी देती है। ज्ञान-वैराग्यका नाम-निशान नहीं रहा। शोकके वचन (राजाके गुण-रूप आदियुक्त) सुनते हैं और मुखसे निकलते हैं इससे इष्टहानिका दुःख और बढ़ता जाता है; जैसे नदी-नाले मिलनेसे नदीका वेग बढ़ता है। शोकातुर होकर लम्बी ऊर्ध्व साँसें (आहें) लोग भरते हैं (जैसे नदीमें पवनके झकोरेसे लहरें ऊपरको उठती हैं) जिससे ज्ञान-वैराग्यसे जिनके मन दृढ़—धीर हो गये हैं, उन ज्ञानी-वैरागी लोगोंका भी धीरज छूट जाता हैं, वे भी शोकपूर्ण हो जाते हैं। कठिन दुख बढ़ता जाता है। लोगोंके जीमें अनेक प्रकारका भय और भ्रम हैं जैसे बढ़ी नदीमें अनेक भँवर और घुमाव (चक्कर) पड़ते हैं—(वै०, पां०, रा० प्र०— 'राज्यके नष्ट होनेका भय, रामजी लौटेंगे या नहीं यह भ्रम।' पु० रा० कु०— चित्त ठिकाने न रहना भ्रम है)। क्या होगा, कोई नहीं जानता। किसीका चित्त ठिकाने नहीं है। सभी शोचमें डूबे जा रहे हैं, उससे बचनेका उपाय नहीं देख पड़ता।

नोट—३ *'बोरति ग्यान बिराग करारें।...'* इति। (क) विदेहसमाज ज्ञानतट है क्योंकि वे ज्ञानिशिरोमणि है और भरतसमाज वैराग्यतट है, क्योंकि भारद्वाजका ऐश्वर्य भी इन्हें नहीं डिगा सका। (पु० रा० कु०) (ख) पं० वि० त्रिपाठीजी लिखते हैं कि समुद्रमें बहुत-सी नदियाँ अनेक दिशाओंसे आकर मिलती हैं। यहाँ रामजीके आश्रमकी उपमा शान्तरसके समुद्रसे दी गयी है; उसमें भी कुछ शान्तरसकी नदियोंका आकर मिलना मानना ही होगा। जिन रास्तोंसे ऋषि-मुनिगण आकर सरकारका दर्शन करते थे, उन्हें शान्तरसकी नदियोंसे उपमित किया जा सकता है। उन्हीं रास्तोंमेंसे एक वह भी है जिससे रघुनाथजी महाराज जनकको लिवाये जा रहे हैं, आज उस रास्तेसे शोकयुक्त समाज जा रहा है, अतः वह शान्तरसकी नदी उस अत्यन्त भारी करुणा-रसकी नदीसे, जिसे रघुनाथजी लिये जाते हैं, ऐसी दब गयी कि उसके ज्ञान-वैराग्यके करारे भी डूब गये। ज्ञान-विरागरूप करारा शान्तरसके नदीका ही माना जा सकता है करुणा-सरितका नहीं माना जा सकता। (ग) नद अर्थात् भारी नदी जैसे महानद और नाले छोटे। यहाँ अवधवासियोंका शोक जो प्रभुके संयोगसे कुछ कम हो गया है नाला है और मिथिला-समाजका शोक जो अधिक है वह नद है। (पु० रा० कु०)

मा० म०— जब करुणानदी चली तब छोटी थी, पर बीचमें नदी-नालोंके संगमसे बढ़ गयी। तात्पर्य यह कि दुष्ट करुणा-शोकपूरित वचन, शोचपूरित ऊर्ध्वश्वास, विषम विषाद, भय और भ्रम इत्यादि अपने समाजसे युक्त आश्रमको चला।

नोट ४—*'केवट बुध बिद्या'...'* इति। करुणानदीसे पार करनेवाले बड़े-बड़े विद्वान् चौदहों विद्याओंमें निपुण यहाँ मौजूद हैं, पर उनकी विद्यारूपी नाव यहाँ इस विषम विषादमें कुछ काम नहीं दे रही है। उनकी भी बुद्धि चकरा रही है। अटकल नहीं मिलता, कैसे इनको धीरज दें। नाव वशमें नहीं आती। बाढ़ आनेपर केवट लंगर डाल देते हैं और मुसाफिरोंसे कह देते हैं कि नाव वशमें नहीं आती, अंदाज नहीं मिलता, इससे अभी न खेवेंगे। वे विचारे हार मानकर बैठ जाते हैं। यहाँ कोल-किरात तटपरके मुसाफिर हैं, पार जाना चाहते हैं, पर वे विस्मित होकर बैठ गये कि इस शोकके पार होना सम्भव नहीं। जब बड़े-बड़े धीर विद्यावान् ही हार गये तब हमारा वश क्या? यहाँ कोल-

किरात खड़े हुए दोनों सभाओंकी दशा एकटक हो देख रहे हैं, ठहरे हुए हैं, इसीसे ऐसा जान पड़ता है कि वे पथिक हैं।

नोट—५ *आश्रम उदधि मिली जब जाई*…… ' इति। (क) जहाँ नदियाँ समुद्रसे मिलती हैं वहाँ बड़ा कोलाहल होता है। वहाँ समुद्र भी कुछ दूरतक क्षुब्ध हो जाता है। नदी समुद्रके भीतर वेगमें दूरतक चली जाती है। यहाँ समाज जैसे ही आश्रमपर पहुँचा वहाँ जो रनवास आदि था वह सम्बन्धियोंको देख शोकाकुल हो उच्च स्वरसे रोने लगा। इधर इस समाजमें शोर—आर्त्तस्वर था ही, इसने शान्तरसपूर्ण समुद्रकी लहरको भी रोक दिया। (ख) *'उठेउ अकुलाई'* से जनाते हैं कि वहाँ जो लोग ऋषि और रनवास आदि थे वे उठ खड़े हुए मानो वे भी अकुला उठे, उनकी भी शान्ति जाती रही, वे भी करुणासे भर गये।

सोकबिकल दोउ राजसमाजा। रहा न ग्यानु न धीरजु लाजा॥ ७॥
भूप रूप गुन सील सराही। रोवहिं सोकसिंधु अवगाही॥ ८॥
छं०—अवगाहि सोकसमुद्र सोचहिं नारि नर ब्याकुल महा।
दै दोष सकल सरोष बोलहिं बाम बिधि कीन्हो कहा॥
सुर सिद्ध तापस जोगिजन मुनि देखि दसा बिदेह की।
तुलसी न समरथु कोउ जो तरि सकै सरित सनेह की॥
सो०—किए अमित उपदेस जहँ तहँ लोगन्ह मुनिबरन्ह।
धीरजु धरिअ नरेस कहेउ बसिष्ठ बिदेह सन॥ २७६॥

अर्थ—दोनों राजसमाज शोकसे व्याकुल हो गये। किसीको न ज्ञान ही रह गया न धीरज और न लज्जा ही रह गयी॥ ७॥ दशरथमहाराजके रूप, गुण और शीलकी सराहना करके सब रो रहे हैं और शोक-समुद्रमें डूब रहे हैं॥ ८॥ स्त्री-पुरुष सभी शोक-समुद्रमें डूबे हुए सोच रहे हैं, निपट व्याकुल हैं। सभी वाम विधाताको दोष दे-देकर क्रोधसहित बोल रहे हैं कि इस टेढ़े विधाताने यह क्या किया (क्या गजब ढाया है)। तुलसीदासजी कहते हैं कि देवता, सिद्ध, तपस्वी, योगी और मुनिलोग विदेहराजकी दशा देखकर कोई भी समर्थ नहीं हैं जो प्रेमरूपी नदीको पार कर सकें।* श्रेष्ठ मुनियोंने जहाँ-तहाँ लोगोंको अगणित उपदेश दिये और वसिष्ठजीने विदेहजीसे कहा कि हे राजन्! धैर्य धारण कीजिये॥ २७६॥

नोट—१ *'रहा न ग्यानु न धीरजु लाजा*…… ' इति। (क) श्रीजनकमहाराज आदिका ज्ञान, अपर उत्तम धीरपुरुषोंका धैर्य और स्त्रियोंकी लज्जा कि समधी लोग सामने हैं— (वै०) वा, (ख)—बड़े-छोटेका ज्ञान, रोनेसे चुप नहीं होते अर्थात् अत्यन्त रुदनसे धीरज न रह गया, वस्त्र आदिका सँभार न होनेसे लज्जा न रही— (पं०)। शोक-समाजमें ज्ञान प्रायः नष्ट हो ही जाता है। यथा— *'चढ़े बधूरे चंग ज्यों ज्ञान ज्यों सोक समाज।'* (दो० ५१३)

नोट—२ (क)—*'भूप रूप गुन सील सराही।*…… ' इति। *'सोक बिकल सब रोवहिं रानी। रूप सील बल तेज बखानी॥'* (१५६। ३) देखिये। करुणारसका आलम्बन यहाँ नृप-मृत्यु आदि हैं, उनके गुण कथन-श्रवण आदिसे उसका उद्दीपन होता ही है। वैसे ही यहाँ रूप, गुण आदिकी प्रशंसासे शोक बढ़ता जा रहा है। रावणवधपर मंदोदरी आदिका और बालिके वधपर ताराका विलाप इससे मिलान कर सकते हैं। यथा—*'छूटे कच नहिं बपुष सँभारा॥ उर ताड़ना करहिं बिधि नाना। रोवत करहिं प्रताप बखाना॥ तव बल नाथ डोल नित धरनी। तेजहीन पावक ससि तरनी॥ सेष कमठ सहि सकहिं न भारा। सो तनु भूमि परेउ भरि छारा॥ बरुन कुबेर सुरेस समीरा। रन सनमुख धरि काहु न धीरा॥*'' जगत विदित

* पं० रामकुमारजी आदिके अर्थ नोट ३ में दिये गये हैं। उपर्युक्त अर्थ नं० प० और मानसाङ्कने दिये हैं।

तुम्हारि प्रभुताई।' (६।१०३।३—९) *'नाना बिधि बिलाप कर तारा। छूटे केस न देह सँभारा॥'* (४। ११। २)

(ख)—*'सोकसिंधु अवगाही।'* भाव कि जैसे-जैसे शोक करते जाते हैं वैसे-ही-वैसे और भी शोकमें डूबते जाते हैं। स्वजनोंको देखकर दबा हुआ शोक भी उमड़ आता है, यथा कुमारसम्भव—**'स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते।'** वैसे ही जनकपुरवासियोंको देखकर यहाँ भी शोक उमड़ आया। *'सोकसिंधु अवगाही'* कहकर दिखाया कि शान्तरस जलसे भरा हुआ आश्रम-सागर कुछ दूर एवं देरतक 'शोक-सागर' हो गया। 'रोवहिं' यही शोक-सागरमें डुबकी लगाना है।

नोट—३ *'तुलसी न समरथु कोउ जो तरि सकै'''* इति। यह कविकी उक्ति है कि सब सुर-सिद्ध आदि देखनेवाले विदेहजीकी दशा देखकर यही विचार कर रहे हैं, या मनमें कह रहे हैं कि जब ऐसे योगिराज विदेहकी यह दशा प्रेममें हो गयी तो प्रेमनदीको पार करनेवाला संसारमें दूसरा कोई नहीं देख पड़ता। अर्थात् तो अब और कोई ऐसा नहीं है जो स्नेहरूपी नदीके पार जा सके। (वै०, पु० रा० कु०) पंजाबीजी लिखते हैं कि 'कैमुतिकन्यायसे कहते हैं कि जब प्रेमसे विदेहकी ऐसी दशा देखी तब उस समय मुनि-तपस्वी आदि भी उस शोक-सरिताके तरनेमें असमर्थ हुए। और रा० प्र०—कार आदि टीकाकारोंने यह अर्थ किया है—'सुर आदि विदेहकी दशा देखकर गोसाईंजी कहते हैं कि कोई समर्थ नहीं जो स्नेहरूपी नदीको तर सके, अर्थात् देखनेवाले स्नेहमें डूब गये। सामान्य मुनियों आदिकी व्याकुलता कहकर आगे विशेष मुनियोंद्वारा उपदेश करना कहते हैं।'

वि० त्रि० *'तुलसी न समरथु कोउ जो तरि सकै सरित सनेह की'*—भाव यह कि यदि स्नेह-नदीके पार हो गये होते तो शोक-समुद्रमें न जा पड़ते। इससे यही मालूम होता है कि विदेहराज भी स्नेह-नदीको पार न कर सके, इतना ही हुआ कि इन्होंने स्नेहको रामजीमें लगा दिया, यथा *'की करु ममता रामपर की ममता परहेलु।'* राममें ममता (स्नेह) करनेसे शोक-समुद्र-निमज्जनकी भी महामहिमा है, वह गङ्गासागरका अवगाहन हो जाता है। *'यह सियराम सनेह बड़ाई।'*

नोट—४ *'किए अमित उपदेस''''* इति। (क) समाजके लोगोंको बहुत-से श्रेष्ठ मुनियोंने उपदेश किया और वसिष्ठजीने विदेहजीको समझाया। यहाँ कविके शब्दोंकी चतुरता देखिये। अधिकार-अनुसार उपदेश भी देनेवाले हैं। सबको समझानेमें 'उपदेश' शब्द दिया और विदेहको उपदेश नहीं; किंतु उनसे 'कहेउ'। पुनः मुनिश्रेष्ठ इनको समझानेके अधिकारी नहीं हैं; इनको समझानेका अधिकार वसिष्ठ और विश्वामित्रजीको ही है। (ख) *'कहेउ'* इति। वसिष्ठजीने कहा कि आप धैर्य न धारण करेंगे तो और लोग कैसे धीरज धरेंगे; आपको मोह कहाँ, आप तो दिखाते हैं कि रामप्रेम कैसा होना चाहिये। जो हो गया वह अमिट है, अब सोच करनेसे क्या लाभ हो सकता है? गत बातका शोच बुद्धिमान् नहीं करते। सारा ब्रह्माण्ड ही नाशवान् है तब किसी व्यक्तिका सोच क्या करना*। (शीला) (ग) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'धीरज दिया अर्थात् सब बड़े प्रवाहमें डूबते थे। जब बाढ़ उतरी तब मुनिरूपी केवटोंने विद्यारूप नावपर चढ़ा लिया।' परंतु इसमें संदेह होता है कि अब तो नदी समुद्रमें मिल गयी अब पूर्वरूपक कहाँ रहा?

जासु ग्यानु रबि भवनिसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥१॥
तेहि कि मोह ममता निअराई। यह सियराम सनेह बड़ाई॥२॥
बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥३॥
राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभा बड़ आदर तासू॥४॥
सोह न रामपेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥५॥

* द्रोणपर्व-(अध्याय ५५—८० तक-) में राजा सृञ्जयके पुत्रशोकसे पीड़ित होनेपर नारदजीने बहुत-से उपाख्यान

शब्दार्थ—**सरस**=भीगा हुआ, हरा-भरा, सुशोभित, अधिक बढ़ा हुआ।

अर्थ— जिनके ज्ञानरूपी सूर्यसे भवरूपी रात्रि मिट जाती है, और जिनके वचनरूपी किरणोंसे मुनिरूपी कमल खिल उठते हैं, क्या मोह-ममता उनके पास जा सकती है? (कदापि नहीं) यह श्रीसीतारामजीके प्रेमकी बड़ाई है॥ १-२॥ विषयी, साधक, सिद्ध तीन प्रकारके सयाने* जीव जगत्‌में वेदोंने कहे हैं॥ ३॥ जिसका मन रामप्रेमरसमें भीगा हुआ है साधुसमाजमें उसीका बड़ा आदर है॥ ४॥ बिना रामप्रेमके ज्ञानकी शोभा नहीं है जैसे बिना मल्लाहके नावकी शोभा नहीं॥ ५॥

नोट—१ *'तेहि कि मोह ममता निअराई'''* इति। —इनका ज्ञान सूर्यवत् सदा दूसरोंको प्रकाशित करनेवाला है, इनके पास मोह-ममतारूपी भवरात्रि आ नहीं सकती—*'तहँ कि तिमिर जहँ भानु प्रकासा।'* इनके उपदेशसे बड़े-बड़े मुनियोंमें ज्ञानका विकास होता है; फिर भला इन्हें मोह-ममता कब हो सकती है। इनकी भवरात्रि नाश हो गयी है, ये तो जीवन्मुक्त हैं। इन्हें मोह (अहंबुद्धि) और ममत्व (सम्बन्धियोंमें) नहीं है। अर्थात् ये हमारे सम्बन्धी थे, इनकी मृत्यु हो गयी, ये हमारे दामाद हैं, वनवास कर रहे हैं, यह जो अहं-ममबुद्धि इनमें है यह अज्ञानकृत नहीं है। ब्रह्ममें कोई भी भाव या सम्बन्ध (दास्य, वात्सल्य, सख्य आदि) रखना उपासनाका अङ्ग है, उस भावसे मोह-ममत्व होना या श्रीसीतारामजीके स्नेहकी महिमा है, यह उपासनाकी बड़ाई है। प्रभुका स्नेह अप्राकृत है। वह प्राकृत सांसारिक स्नेह नहीं है। लौकिक स्नेहमें यह सामर्थ्य नहीं कि वह ऐसे ज्ञानियोंके ज्ञानको डुबा दे, यह श्रीसीतारामोपासनावाले प्रेमहीमें सामर्थ्य है। जो लौकिक मोह-ममत्वके पार हो चुके हैं, उनपर भी श्रीसीतारामजीका प्रेम अपना प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहता। प्रभुमें उनका ऐसा उच्च अलौकिक स्नेह है कि उसके आगे ज्ञान जाता रहा। प्रभुकी उपासनामें अहं-ममकी शोभा है, यथा—*'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥'* (३।११।२१)। इनका प्रेम जनकपुरमें प्रभुको देखकर उमड़ आया था, उससे मिलान कीजिये। *'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥'* आगे राम-स्नेहकी महिमा लिखते हैं।

नोट—२ *'बिषई साधक सिद्ध सयाने'''* इति। विषई=शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध विषयोंमें लिप्त। साधक=मुमुक्षु जो मुक्तिके साधनमें लगे हैं, साधन-चतुष्टयसम्पन्न। सिद्ध=जीवन्मुक्त। संसारमें ये तीन प्रकारके जीव हैं।

नोट—३ (क) *'राम सनेह सरस मन जासू'''* अर्थात् तीनोंमेंसे कोई भी हो, चाहे विषयी ही क्यों न हो, वह भी रामप्रेमयुक्त हो तो उसका ही आदर साधुसमाजमें होता है और जीवन्मुक्तजीवमें भी रामप्रेम न हो तो वह कामका नहीं, उसकी मुक्ति होगी; पर साधुसमाजमें उसका आदर नहीं। यही रामप्रेमका महत्त्व है। तभी तो देखिये कि सनकादिक *'जीवन्मुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान।'* (७। ४२) सदा ब्रह्मानन्दमें लवलीन रहनेवाले होकर भी श्रीरामकथा सुननेके लिये श्रीअगस्त्यजीके पास जाते थे। और श्रीरामजीसे प्रेमभक्तिकी याचना किया करते थे। (ख) —*'बड़ आदर'* का भाव कि साधुसभामें आदर सबका ही होता है, यथा—*'सबहिं मानप्रद आपु अमानी।'* (७। ३८। ४); पर रामप्रेमीका विशेष आदर होता है।

नोट—४ *'सोह न रामपेम बिनु ग्यानू'''''* इति।— *'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहँ टेका॥'* *(७।४५।३) जैसे बिना मल्लाहके नाव। नाव और मल्लाह दोनों हों तब पार उतरे और उतारे।* बिना मल्लाहके नाव बहकर डूबे या टूटे, उसका ठिकाना नहीं; वैसे ही बिना प्रेमका ज्ञान बहाकर डुबा ही देनेवाला होगा और स्वयं डूब जाता है। यथा—*'तबहिं दीप बिज्ञान बुझाई।'* (७।११८।१३)।

उन्हें सुनाये—राजा मरुत, सुहोत्र, अङ्ग, शिविजी, भगीरथजी, दिलीप, मान्धाता, ययाति, अम्बरीष, शशबिन्दु, गय, रन्तिदेव, भरत (दुष्यन्तके पुत्र), पृथु, परशुराम (२१ बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय किया) इत्यादि कि जब इन्हें भी मृत्युने आ घेरा तब तुम और तुम्हारा पुत्र तो उनके पासंग भी न थे तब क्यों शोक करते हो। २४७ (२), (८) में शोकनिवारणके उपदेश देखिये।

* वा, सयानेको सिद्धका विशेषण मान लें— (वै, रा० प्र०)।

मुनि बहु बिधि बिदेह समुझाए। रामघाट सब लोग नहाए॥ ६॥
सकल सोक संकुल नर नारी। सो बासरु बीतेउ बिनु बारी॥ ७॥
पसु खग मृगन्ह न कीन्ह अहारू। प्रिय परिजन कर कौन बिचारू॥ ८॥
दो०—दोउ समाज निमिराजु रघुराजु नहानें प्रात।
बैठे सब बट बिटप तर मन मलीन कृस गात॥ २७७॥

शब्दार्थ—संकुल=परिपूर्ण, भरा हुआ। विचार=खयाल, अनुमान।

अर्थ—मुनि वसिष्ठजीने बहुत तरहसे विदेहजीको समझाया। (तब) सब लोगोंने रामघाटपर स्नान किया॥ ६॥ सब स्त्री-पुरुष शोकसे पूर्ण थे। वह दिन सबको निर्जल बीता (अर्थात् उस दिन किसीने जलतक न पिया, भोजनकी कौन कहे)॥ ७॥ पशु-पक्षी, हरिणोंतकने भोजन नहीं किया तब प्यारे कुटुम्बियों-का क्या विचार किया जाय!॥ ८॥ राजा निमिके वंशज जनकमहाराज और रघुकुलराज श्रीरामजी तथा दोनों राजसमाजोंने प्रात:काल स्नान किया और सब वटवृक्षके नीचे (जाकर) बैठे, सबके मन उदास और शरीर दुबले हो गये हैं॥ २७७॥

नोट—१ (क) वसिष्ठजीका विदेहजीसे धैर्य धारण करना कहकर कवि पाठकोंके सम्भव संदेहकी निवृत्ति करने लगे थे। *'जासु ज्ञान रबि भवनिसि नासा'* से *'करनधार बिनु जिमि जलजानू।'* (२७७। १—५) तक संदेह-निवृत्ति है। अब पूर्वसे प्रसङ्ग मिलाते हैं। *'धीरज धरिय नरेस कहेउ बसिष्ठ बिदेह सन।'* (२७६) और यहाँ *'मुनि बहु बिधि बिदेह समुझाए।'* मुनि वही वसिष्ठजी हैं। (ख) *'बहु बिधि समुझाए'*— बहु विधि समझाना दोहा १५६, २७६ में देखिये। वि० त्रि० जी समझाना इस प्रकार कहते हैं—*'जनम होत नृप मरन हित, मरन जनम हित होय। चला-चली चहुँदिसि लखिय थिर कतहूँ नहि कोय॥ थिर मानै गन्धर्वपुर, दामिनि शरद पयोद। सो थिर मानि शरीरको करै बिनोद प्रमोद॥ गिरिहु गिरत तारा खसत सूख जाति जलराशि। ध्रुवहु अध्रुव जग होत है कोउ न कर विश्वास॥ शशक शृंग वन्ध्या तनय मृगजल सम जग जानि। दुखसुख सम करि जानिये किये शोक हित हानि॥ तुमसे ज्ञान निधान कहँ उचित न कहत विषाद। जानत हौ यहि जगत को तीन कालमें बाध॥ सत्यसंध दशरथ नृपति, धर्म निरत जग जान। तीन काल तिहुँ भुवनमें नहिं कोउ तासु समान॥ शोचनीय सो होय नहिं मन महँ करहु बिचार। करि विवेक धीरज धरहु ज्ञानिन्हके सरदार॥'* (ग) 'रामघाट'= वह घाट जहाँ श्रीरामजी स्नान किया करते थे।

नोट २— *'न कीन्ह अहारू'''''।'* अर्थात् चारा उनके पास है पर उन्होंने नहीं खाया। *'कौन बिचारू'* अर्थात् पशु-पक्षियोंने चारा रहते हुए भी न खाया ऐसे शोकमें मग्न हो गये थे; तब ये तो मनुष्य और श्रीरामजीके प्रिय परिजन हैं इनके सम्बन्धमें विचार करना या कहना ही क्या? इतनेसे ही पाठक समझ सकते हैं।

पूर्व जब अवधसमाज आया था और श्रीदशरथजीका स्वर्गवास सुनाया गया तब कहा है कि *'सोक बिकल अति सकल समाजू।''''''मुनिबर बहुरि राम समुझाए। सहित समाज सुसरित नहाए॥ ब्रत निरंबु तेहि दिन प्रभु कीन्हा। मुनिहु कहे जल काहु न लीन्हा॥'* उससे मिलान करनेसे स्पष्ट है कि इस समय पूर्वसे अधिक शोक-निमग्नता है। उस समय इतना उपदेश न करना पड़ा था और इस समय तो *'किये अमित उपदेस'* और बार-बार। उस समय *'ब्रतु निरंबु'* के पश्चात् फिर सब स्वस्थ हो गये थे और इस बार तो दूसरे दिन प्रात:-स्नानके बाद भी शोक बना ही रहा—*'बैठे सब बट बिटप तर मन मलीन कृस गात'* और फिर भी बहुत उपदेश करना पड़ा है। उस बार खग-मृगादिका निराहार रहना नहीं कहा गया था, इस बार पशु-पक्षी आदि भी शोकमग्न हैं। उस समय पिताका स्वर्गवास प्रथम-प्रथम सुनाया था अत: श्रीराम-लक्ष्मणजीका भी विलाप कहा था। इस समय श्रीरामजी शान्त हैं।

नोट—३ (क) *'दोउ समाज निमिराजु रघुराजु नहानें प्रात'* इति। इसमें यतिभंग दोष प्रत्यक्ष है। प्र०

स्वामीजी लिखते हैं कि इसमें 'रघुराज' शब्दमेंसे 'रघु' को प्रथम चरणमें लेना पड़ता है और 'राज' को दूसरेमें, यह काव्य-दोष-सा प्रतीत होता है। इस दोषसे कवि यह जना रहे हैं कि दोनों समाजोंको स्नान करनेका समय हो जानेसे ही स्नान करने जाना पड़ा पर समाजमें *'सकल सोक संकुल नर नारी'* अब भी हैं। मानस नाट्य महाकाव्य है, अतः इसमें यतिभङ्ग, छन्दोभङ्ग आदि दोषोंद्वारा जान-बूझकर भाव प्रदर्शित किये गये हैं। पं० रामकुमारजीने एक खर्रेमें लिखा है कि 'रघु' और 'राज' को पृथक् करके जनाया है कि श्रीरामजी अभी राज्यसे पृथक् हो जायँगे, इन दोनोंका संयोग न रहेगा, वियोग शीघ्र हो जायगा। (ख) *'मन मलीन कृस गात'* इति। भाव कि यद्यपि स्नानसे शरीरको निर्मल किया है तथापि मन मलिन (उदास) ही है। शोक भी एक मल है। इसको धोनेका प्रयत्न *'हंसबंस गुर जनक पुरोधा'* करेंगे पर कृशगात अधिक ही कृश होंगे। (प० प० प्र०)।

जे महिसुर दसरथपुर बासी। जे मिथिलापति नगर निवासी॥ १॥
हंसबंस गुर जनक पुरोधा। जिन्ह जग मगु परमारथु सोधा॥ २॥
लगे कहन उपदेस अनेका। सहित धरम नय बिरति बिबेका॥ ३॥
कौसिक कहि कहि कथा पुरानी। समुझाई सब सभा सुबानी॥ ४॥
तब रघुनाथ कौसिकहि कहेऊ। नाथ कालि जल बिनु सबु रहेऊ॥ ५॥

अर्थ—जो ब्राह्मण श्रीदशरथजीके नगर श्रीअयोध्याजीके और जो मिथिलाके राजा जनक-(शीरध्वज-महाराज-) के नगरके रहनेवाले थे, सूर्यवंशके गुरु श्रीवसिष्ठजी और श्रीजनकमहाराजके पुरोहित श्रीशतानन्दजी जिन्होंने जगत्‌में परमार्थका मार्ग खोजा था (अर्थात् परमार्थतत्त्वमें निपुण थे) वे सब धर्म, नीति, वैराग्य और ज्ञानयुक्त अनेक उपदेश देने लगे॥ १—३॥ विश्वामित्रजीने पुरानी कथाएँ कह-कहकर सब सभाको सुन्दर वाणीसे समझाया॥ ४॥ तब श्रीरघुनाथजीने श्रीविश्वामित्रजीसे कहा—हे नाथ! कल सब बिना जलके रहे हैं॥ ५॥

प० प० प्र०—*'जे महिसुर'*' इति। यहाँ दशरथपुरवासी ब्राह्मणोंको प्राधान्य दिया है। कारण कि मिथिलापुरवासी अधिक शोक-संकुल होनेसे उपदेश करनेमें इतने तत्पर नहीं हैं जितने 'दशरथपुरवासी' हैं। यह दूतोंके वचनके अनुकूल है कि शोकसे सभी विदेह हो गये।

नोट—१ *'जिन्ह जग मगु परमारथु सोधा'* इति। (क) पु० रा० कु०—जगत्‌में रहते हुए, स्त्री-बच्चों-सहित लोकका मार्ग लोकव्यवहार अच्छी तरह जानते और चलाते हुए, परमार्थसाधन कर इन्होंने भगवत्-प्राप्ति कर ली है। अर्थात् दोनों मार्गोंको (लोक-परलोक दोनोंके तत्त्वोंको) अच्छी तरह जानते हैं।

☞ यह उपदेश है कि लोकव्यवहार करते हुए भी मनुष्य प्रभुकी प्राप्ति कर सकता है। लोकसंग्रहार्थ दोनोंकी आवश्यकता है। जैसे बसिष्ठजी और शतानन्दजीने जगत्‌के मार्गसे उसके व्यवहारसे परमार्थको जाना (रा० प्र०)। देखो ये सूर्यवंश अथवा निमिवंशके पुरोहित और मन्त्री भी बने रहे और परमार्थ भी उज्ज्वल रहा। कोई दोनों साधे तो कुछ भी बेमौका नहीं है। अथवा, जगमग और परमार्थमग दोनोंको शोधा और पता लगाया, पता लगाकर दूसरोंके लिये राह बतायी। इनकी रहनी देखकर उसपर चले तो लोक और परलोक दोनों बन जायँ। दोहावलीमें कहा है— *'जथालाभ संतोष सुख रघुबर चरन सनेह। तुलसी जो मन बूँद (खूँद?) सम कानन बसहु कि गेह॥'* (दो० ६२)

नोट—२ *'सहित धरम नय बिरति बिबेका'* इति। (१) पु० रा० कु०— (क) अर्थात् धर्मशास्त्र, राजनीति, वैराग्यशास्त्र जैसे पातञ्जल आदिका और सांख्यशास्त्र चारोंके वाक्य लेकर उपदेश किये (ख)—पुनः धर्म और नीति ये जगत्‌के मार्गके अनुसार उपदेश हैं और वैराग्य तथा ज्ञान परमार्थमार्गके उपदेश हैं। अर्थात् प्रथम जो कहा था कि *'जग मगु परमारथु सोधा'* उसको यहाँ चरितार्थ किया। दोनोंमें वे निपुण हैं; अतः दोनों प्रकारसे उपदेश किया (पु० रा० कु०)। अथवा, लोगोंके अधिकारानुसार इसने उपदेश किया। किसीको धर्म, किसीको नीति इत्यादिके उपदेश दिये।

नोट—३ *'कौसिक कहि कहि कथा पुरानी'''* इति। (क)—विश्वामित्रजीका नाम यहाँ स्पष्ट किया गया। अभीतक इनका आगमन नहीं कहा गया था। यहाँ प्रथम-प्रथम कहकर जनाया कि ये जनकजीके साथ आये हैं। ये कालीन ऋषि हैं और इनको प्राचीन कथाओंका बहुत ज्ञान है, जहाँ देखिये ये प्राचीन कथाएँ ही कहते हैं—यह बात विश्वामित्र-यज्ञ-रक्षासे सीय-स्वयंवरतक बराबर देखनेमें आयी है। यथा—*'कहत कथा इतिहास पुरानी।'* (१। २२६), *'लगे कहन कछु कथा पुरानी।'* (१। २३७) इत्यादि तथा यहाँ *'कहि कहि कथा पुरानी।'* यहाँ कथा कहकर समझानेका प्रसङ्ग आनेको था ही, इसीसे पूर्व आगमन न कहा। ☞ पूर्व कहा जा चुका है कि पूज्य कविकी यह शैली है कि जिस बातको कहीं विस्तृत रूपसे कहना है उसको वहीं एक स्थानपर कह देते हैं, बारम्बार दोहराते नहीं। इस ग्रन्थमें ऐसे प्रसङ्ग बहुत हैं जहाँ एक ही जगह कहकर आगे-पीछेका भी बोध कर दिया है। वाल्मीकिजीने बहुत दोहराया है, यहाँ वह बात नहीं है। (ख)—*'समुझाई सब सभा सुबानी।'* इनका सभीको समझाना कहा, यह क्यों? कारण कि ये किसीके वर्गके नहीं, न भरतके वर्गमें न जनकके वर्गमें। वसिष्ठजी और शतानन्दजीने अपने-अपने समाजको उपदेश दिया। विश्वामित्रजीने दोनोंको (पु०रा०कु०)। पुनः, यह भी हो सकता है कि मिथिला-अवध दोनों इनके ऋणी हैं, दोनोंको ये प्रिय हैं; क्योंकि इनकी कृपासे 'सिया' जीका स्वयंवर पूरा हुआ और अवधेशके चारों पुत्र ब्याहे गये। दूसरे, कथाएँ सबको प्यारी लगती ही हैं, इससे सब सुनते हैं, सबको ये समझाते हैं। (ग)*'सुबानी'* का भाव कि पुराणोंकी कथाओंको सुन्दर मधुर वाणीमें अत्यन्त प्रिय बनाकर कहा, जिसमें सबको रुचिकर हों। कथाओंसे दिखाया कि यशस्वी सदा जीवित हैं उनका सोच व्यर्थ है। इत्यादि। (शीला)। (घ) वि० त्रि० जी कौशिकजीका समझाना इस प्रकार कहते हैं—*'आया है सो जायगा सुनो सभासद वृन्द। यहाँ सोक करता नहीं कोई भी स्वच्छन्द॥ वे ही धन्य जो धर्मके लिये उठाते कष्ट। उनका जीना व्यर्थ जो धर्मपन्थ से भ्रष्ट॥ सत्य न छोड़ा भूपने दिया देहको छोड़। दुनियामें हो गया इक नृप दशरथ बेजोड़॥ तौल तराजू पर दिये काट काट निज मांस। गुरुता बढ़ी कपोतकी शिबि नहिं हुए उदास॥ गये काटते अंततक काँप उठा संसार। कठिन परीक्षा धर्मकी धन्य जो पावै पार॥ राज गया रानी बिकी बिके डोमके हाथ। हरिश्चन्द्र फिर भी नहीं तजे धर्मका साथ॥ बामनने बलिको ठगा बलिने तजा न धर्म। नाप दिया निज देहको कठिन धर्मका मर्म॥ बढ़ी बिरह ज्वाला बड़ी जलभुन गया शरीर। सत्य न दशरथ तज सके ऐसे थे मतिधीर॥ ऐसे राजाकी प्रजा हो करके तुम लोग। शोक तजो धीरज धरो नश्वर सुख दुख भोग॥'*

'तब रघुनाथ कौसिकहि कहेऊ।' (क) कौशिकसे कहा क्योंकि इनका दोनोंपर दबाव है, दूसरे ये दोनोंमेंसे किसीके वर्गके नहीं हैं। देखिये जब जनकमहाराज चक्रवर्तीजीको बिदा नहीं करते थे तब इन्हींने जाकर समझाया था। इससे भी श्रीरामजीका शान्त रहना प्रकट है। और सब शोकमें डूबे थे पर ये सावधान थे। (ख) *'नाथ कालि जल बिनु सबु रहेऊ'*—अर्थात् किसीने कल और आज इस समयतक कुछ आहारकी कौन कहे जलतक नहीं ग्रहण किया। शोकसे सब ऐसे ही कृश हैं, आहार बिना और कष्ट होगा, आप सबको आज्ञा दें कि भोजन करें, आपकी आज्ञा सब मानेंगे।

मुनि कह उचित कहत रघुराई। गयेउ बीति दिन पहर अढ़ाई॥६॥
रिषि रुख लखि कह तेरहुतिराजू। इहाँ उचित नहिं असन अनाजू॥७॥
कहा भूप भल सबहिं सुहाना। पाइ रजायसु चले नहाना॥८॥
दो०—तेहि अवसर फल फूल दल मूल अनेक प्रकार।
लेइ आये बनचर बिपुल भरि भरि काँवरि भार॥२७८॥

शब्दार्थ—**अढ़ाई**=दो और आधा, २ $\frac{1}{2}$। भारि=बोझ भर, '**भारः स्याद्विंशतितुला**' इत्यमरः—(वन्दन पाठकजी)। **बनचर**=वन-(जंगल-) में रहनेवाले मनुष्य, वनवासी, जंगली आदमी, कोल-किरात। **दल**=पौधोंके पत्ते जो खाये जाते हैं।

अर्थ—श्रीविश्वामित्रजी बोले कि श्रीरामजी ठीक कह रहे हैं, ढाई प्रहर दिन (आज भी) बीत गया॥ ६॥ ऋषिका रुख देखकर तिरहुतराज श्रीजनक महाराजने कहा कि यहाँ अन्न-भोजन करना उचित नहीं॥ ७॥ राजाने अच्छी बात कही, सबको भायी। आज्ञा पाकर सब नहाने चले॥ ८॥ उसी समय अनेक प्रकारके बहुत-से फल-फूलदल और मूल बहुत-सी बहँगियों और बोझोंमें* भर-भरकर लादकर वनवासी कोल-भील आदि ले आये॥ २७८॥

पु०रा०कु०—(१) *'रिषि रुख लखि कह तेरहुति राजू।'* इससे जनाया कि विश्वामित्रजीकी यही राय थी, उसको लक्ष्य करके ऐसा कहा। (२) *'तेहि अवसर'* अर्थात् श्रीरामजीकी इच्छासे।

नोट— *'इहाँ उचित नहिं असन अनाजू'* इति। १—भाव कि श्रीरामजी फलाहार करें और सब लोग अन्न खायें, यह उचित नहीं। (वै०)। २—अवधवासी भी नेम-व्रतसे हैं। ३—'अन्नका सामान करनेमें और रसोई तैयार होनेमें समय लगेगा, हम सब दर्शनोंको आये और दिन रसोईमें ही बीत जाय, यह उचित नहीं। अथवा, कोलभीलोंकी सेवा भी सुफल करना है— (पं०)।

कामद भे गिरि राम प्रसादा। अवलोकत अपहरत बिषादा॥ १॥
सर सरिता बन भूमि बिभागा। जनु उमगत आनँद अनुरागा॥ २॥
बेलि बिटप सब सफल सफूला। बोलत खग मृग अलि अनुकूला॥ ३॥
तेहि अवसर बन अधिक उछाहू। त्रिबिध समीर सुखद सब काहू॥ ४॥

शब्दार्थ—**प्रसादा**=कृपा या प्रसन्नता। **अपहरत**=निश्चय ही एवं पूर्णरूपसे हरण करता है। 'अप' उपसर्ग यहाँ विशेष, निश्चय, पूर्णरूपका अर्थ देता है। **अनुकूला**=मनको प्रसन्न करनेवाली, सुखदायक।

अर्थ—श्रीरामजीकी प्रसन्नता-(कृपा-)से (यहाँके सब) पर्वत मनोवाञ्छित देनेवाले हो गये। दर्शन-मात्रसे निश्चय ही दुःखको हर लेते हैं॥ १॥ तालाब, नदी, वन आदि पृथ्वीके अनेक भागोंमें मानो आनन्द और अनुराग उमड़ रहा है॥ २॥ बेलें और वृक्ष सभी फल और फूलसे युक्त हैं। पक्षी, पशु और भौंरे अनुकूल बोली बोल रहे हैं॥ ३॥ उस समय वनमें बहुत आनन्द था, सबको सुख देनेवाली तीन प्रकारकी हवा चल रही थी॥ ४॥

नोट—१ *'कामद भे गिरि राम प्रसादा।....'* इति। समाजभरके लिये कन्द-मूल-फल कहाँसे आ गया? उसका यह उत्तर है। श्रीरामजीकी कृपासे यहाँके पर्वत कामतरुकी तरह सभी कामनाओंके पूर्ण करनेवाले बन गये हैं, फल-मूलकी ही आप क्या कहते हैं? देखिये लंकामें प्रभुके पहुँचते ही ऋतु-अनऋतुका विचार छोड़ सब वृक्ष फलसम्पन्न हो गये—*'सब तरु फरे राम हित लागी। रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी॥'* (लं० ५। ५)। यह सब रामप्रसाद रामकृपाका फल है। यथा—*'बिनु ही रितु तरुबर फरत सिला द्रवति जल जोर। राम लखन सिय करि कृपा जब चितवत जेहि ओर॥'* (दो० १७३)।

यहाँ *'राम'* पद दिया अर्थात् ये सबके आत्मा हैं इससे यह होना बड़ी बात नहीं। ऐसे प्रसंगोंमें प्रायः *'राम'* नामका प्रयोग किया गया है।

नोट—२ *'सर सरिता बन भूमि बिभागा।....'* इति। (क) *'बिभागा'* के दो प्रकारसे अर्थ किये जाते हैं। एक पृथ्वीके ये सब एवं अन्य भाग भी पृथक्-पृथक्', दूसरे, 'सर, सरित, वन और पृथ्वीके भाग नाला, नदी या पहाड़ोंके बीच-बीचमें जो विलग-विलग भूमिका है'— (वै०)। अथवा, वनभूमिके सर, सरिता आदि विभाग—यह भाव १३६ (५) और उसकी व्याख्यासे निकलता है। पर यहाँ 'भूमिके सब भाग' यही ठीक है क्योंकि अन्तमें कहते हैं कि *'जनु महि करत जनकु पहुनाई॥'* (ख) जबसे रामजी चित्रकूट आये *'तब ते भएउ बन मंगलदायक।'* वनमें वृक्ष, सर, सरिता, पर्वत, पक्षी, पशु आदि

---

* ऐसा भी अर्थ लोग करते हैं कि काँवरोंका पूरा बोझ लादकर लाये। पंजाबीजी काँवर भरभर कंधेपर और भार सिरपर लाद-लादकर लाना लिखते हैं।

सबको पृथक्-पृथक् कहकर सबकी शोभा कही, फिर अन्तमें उपसंहारमें कहा है कि *'सो बन सैल सुभाय सुहावन।'* [१३७ (५)—१३९(३)] मङ्गलदायक तो था ही अब अधिक हो गया, आनन्द और अनुराग मानो उसमेंसे उमड़ता चला आता है।

नोट—३ *'बेलि बिटप सब सफल सफूला।'''''* इति। इसमें तीनों भाव हैं। बेलें पुष्पयुक्त, वृक्ष फलयुक्त। वा, जिनमें केवल फूल लगता है, वे फूले हैं जिनमें केवल फल लगता है वे फलसे लदे हैं और जिनमें फूल और फल दोनों होते हैं वे दोनोंसे युक्त हैं। वा, सभी फल-फूल-सम्पन्न हैं, यह आश्चर्य श्रीसीताराम-कृपासे हो रहा है। बा० २१२*'फूलत फलत सुपल्लवत''''* भी देखिये।

वि० त्रि०—*'तेहि अवसर बन अधिक उछाहू।'* इति। रामशैलके विषयमें कहकर, अब रामवनके विषयमें कहते हैं। उस वनमें सदा ही उछाह बना रहता था। भरतजी आये तो उन्होंने देखा *'अलिगन गावत नाचत मोरा। जनु सुराज मंगल चहुँ ओरा॥'* इस समय तो रामजीके प्रसादसे शैल कामद हो गया तो वनमें भी उछाह बढ़ गया।

जाइ न बरनि मनोहरताई। [जनु महि करत जनक पहुनाई॥५॥
तब सब लोग नहाइ नहाई।]* रामु जनक मुनि आयसु पाई॥६॥
देखि देखि तरुवर अनुरागे। जहँ तहँ पुरजन उतरन लागे॥७॥
दल फल मूल कंद बिधि नाना। पावन सुंदर सुधा समाना॥८॥
दो०—सादर सब कहँ रामगुर पठए भरि भरि भार।
पूजि पितर सुर अतिथि गुर लगे करन फलहार॥२७९॥

अर्थ—वनकी सुन्दरता—रमणीयता कही नहीं जा सकती, मानो पृथ्वी राजा जनककी मेहमानी (आतिथ्य-सत्कार) कर रही है॥५॥ तब सब लोग नहा-नहाकर श्रीरामचन्द्रजी, श्रीजनक महाराज और मुनिकी आज्ञा पाकर, सुन्दर वृक्षोंको देख-देखकर प्रेममें भरकर पुरवासी जहाँ-तहाँ उतरने लगे॥६-७॥ रामगुरु श्रीवसिष्ठजीने अनेक प्रकारके पवित्र, सुन्दर और अमृत-समान स्वादवाले† दल, फल, मूल और कन्द भार भर-भरकर सबको आदरपूर्वक भेजे। वे पितर, देवता, अतिथि और गुरुकी पूजा करके फलाहार करने लगे॥८-२७९॥

'जनु महि करत जनक पहुनाई'

'यहाँ प्रसङ्ग करुणारसका था, उसमें शृङ्गारका वर्णन रसाभास है। त्रिविध समीर, पक्षी और भँवरके शब्द आदि वनकी शोभा शृङ्गारके उद्दीपन विभावका वर्णनप्रसङ्ग समयसे विरुद्ध है।', यह शंका उठाकर पाँड़ेजी कहते हैं कि इसी विचारसे गोसाईंजीने 'पृथ्वीका शृङ्गार वर्णन किया। क्योंकि वह जड़ है उसको अवसर-कुअवसरका ज्ञान नही।' बैजनाथजी कहते हैं कि इसका कारण यह है कि मिथिलावासी शृङ्गारके अधिकारी हैं, वियोगमात्र करुणा रही, श्रीरघुनाथ-संयोग पाकर शृङ्गार जाग उठा, करुणा शान्त हुई।

पं०—जनकजी श्रीरामजीके श्वशुर हैं। उनका कोई पदार्थ वे लेंगे नहीं और यहाँ ये अतिथि हैं, राजा हैं, इनका सत्कार होना भी आवश्यक है, यह सोचकर पृथ्वी स्वयं पहुनाई करने लगी। पृथ्वी पहुनाई

* कोष्ठकमें दिये हुए दोनों चरण राजापुरकी पोथीमें नहीं हैं और काशिराजकी रामायण-परिचर्यामें भी नहीं हैं। इनके न रहनेसे कोई विशेष हानि नहीं जान पड़ती, प्रसंगमें कोई त्रुटि नहीं पड़ती। पर ये अन्य सब प्रतियोंमें और उत्प्रेक्षासे रसाभासका समाधान भी हो जाता है। हो सकता है कि ये दो चरण लेखकसे छूट गये हों या पीछे बढ़ाये गये हों। दोहा २५०(२) देखिये।

† इनके भाव २५०(१) में देखिये।

करती है जिसमें ये लौटनेको न कहें। वह मानो कह रही है कि इनको दुःख न होगा, मैं सदा इनकी इसी प्रकार सेवा करूँगी। इन्हें हमारा भार उतारने जाने दीजिये।

मा० म०—जानकीजी धरणिजा हैं। उनके सम्बन्धसे ये पृथ्वीके पति हैं, यथा— *'देखे सुने भूपति अनेक झूठे झूठे नाम साँचे तिरहुतनाथ साखि देति मही है।'* (गी० १। ८५)। पत्नीकी सेवा पति अङ्गीकार करता है। अतएव पृथ्वीने उनका धर्म रख लिया। (मयंक)

पु०रा०कु०—पति जानकर पहुनाईके सब पदार्थ एकत्र कर दिये हैं। वृक्षोंपर वेलें छायी हैं वे ही तम्बू-शामियाने हैं, फल-फूल भोजनके लिये हैं, पशु-पक्षी तायफा हैं, भँवर गायक, मोर नट इत्यादि सब सरंजाम जैसा राजाकी पहुनाईमें चाहिये सब एकत्र कर दिया है।

नोट—१ *'देखि देखि तरुबर अनुरागे।'''''* इति। एक दिन बीत गया, अबतक डेरा भी नहीं डाला था। कारण कि कल तो शोकमें सब ऐसे निमग्न थे कि किसीने जल भी न ग्रहण किया था, जो जहाँ था वहीं ज्यों-का-त्यों रह गया था, शोकहीमें रात बीत गयी। वनमें अनुराग और आनन्द उमग रहा है, अतः वृक्षोंको देखकर अनुरक्त होते हैं, जो वृक्ष जिसको अच्छा लगा उसीके नीचे वह रह गया। *'तरु'* को *'वर'* विशेषण देकर जनाया कि इनमें विशाल छाया है। ग्रीष्मके दिन हैं, घामकी तपन और लू जहाँ न लगे ऐसे श्रेष्ठ सुन्दर विशाल सघन सफल वृक्ष हैं।

नोट— २ *'सादर सब कहँ रामगुर पठए'''''* इति। रामगुरु वसिष्ठ-विश्वामित्र दोनों हैं। यहाँ दोनोंसे ही तात्पर्य है। इसीसे कोई और नाम न दिया। कुछ लोगोंका मत है कि यहाँ रामगुरु विश्वामित्र हैं।

नोट—३ *'पूजि पितर सुर अतिथि गुर'''''* यह भोजनकी विधि लिखी। पितर, देवता (बलिवैश्वदेव''''''), अतिथिका भाग निकालकर और गुरुको देकर तब भोजन करते हैं।

एहि बिधि बासर बीते चारी। राम निरखि नर नारि सुखारी॥ १॥
दुहुँ समाज असि रुचि मन माहीं। बिनु सियराम फिरब भल नाहीं॥ २॥
सीताराम संग बनवासू। कोटि अमरपुर सरिस सुपासू॥ ३॥
परिहरि लषन राम बैदेही। जेहि घरु भाव बाम बिधि तेही॥ ४॥
दाहिन दइउ होइ जब सबहीं। राम समीप बसिअ बन तबहीं॥ ५॥
मंदाकिनि मज्जन तिहुँ काला। रामदरसु मुद मंगल माला॥ ६॥
अटनु रामगिरि बन तापस थल। असनु अमिअ सम कंद मूल फल॥ ७॥
सुख समेत संबत दुइ साता। पल सम होंहि न जनिअहिं जाता॥ ८॥

दो०—एहि सुख जोग न लोग सब कहहिं कहाँ अस भागु।
सहज सुभायँ समाज दुहुँ रामचरन अनुरागु॥ २८०॥

एहि बिधि सकल मनोरथ करहीं। बचन सप्रेम सुनत मन हरहीं॥ १॥

शब्दार्थ—**माला**=पंक्ति, अवली, समूह, झुण्ड=*'मृगमाला फिरि दाहिन आई'* (बा०) **संबत**=वर्ष, साल। **सहज**=प्राकृतिक, साधारण, स्वाभाविक, कुदरती, बनावटी या शिक्षा पानेसे नहीं, जन्मके साथ उत्पन्न होनेवाला।

अर्थ—इस प्रकार चार दिन बीत गये। श्रीरामचन्द्रजीको देखकर स्त्री-पुरुष (सब) सुखी हैं॥ १॥ दोनों समाजोंके मनमें ऐसी इच्छा है कि बिना श्रीसीतारामजीके लौटना अच्छा नहीं (अर्थात् साथ लेकर ही लौटें अन्यथा नहीं)॥ २॥ श्रीसीतारामजीके साथ वनका वास करोड़ों देवलोकों (के निवास) के समान सुखदायक है॥ ३॥ श्रीलक्ष्मण-राम-वैदेहीजीको छोड़कर जिसे घर अच्छा लगे उसे विधाता उलटे हैं (जानो)॥ ४॥ जब दैव सबको दाहिना हो तभी श्रीरामजीके पास वनमें निवास हो॥ ५॥ मन्दाकिनीमें

त्रिकाल स्नान और आनन्द-मङ्गलोंका समूह रामदर्शन, श्रीरामजीके पर्वतों, वनों तथा तपस्वियोंके स्थानोंमें घूमते, अमृत-समान कन्द-मूल-फलका भोजनकर १४ वर्ष सुखपूर्वक पल-समान हो (बीत) जायँगे, जाते जान न पड़ेंगे॥ ६—८॥ सब लोग कह रहे हैं कि हम सब इस सुखके योग्य नहीं हैं, हमारे ऐसे भाग्य कहाँ? दोनों (अवध-मिथिला) समाजोंका श्रीरामजीके चरणोंमें सहज स्वभावसे प्रेम है॥ २८०॥ इस प्रकार सभी लोग मनोरथ कर रहे हैं। प्रेमभरे वचन सुनकर ही मन हर जाता है॥ १॥

नोट—१ '*एहि बिधि*'—जैसा ऊपर कह आये कि प्रात:काल स्नान आदि करके आश्रमपर बैठते हैं, दूसरे स्नानके बाद सबका भाग निकालकर भोजन करते हैं। (प्र०सं०)। दिन बीतनेकी विधि कहते हैं कि लोग फलाहार करते हैं और रामजीका दर्शन करते हैं। रामजीके दर्शनकी यह महिमा है कि उनके सामने कोई सुख जँचता नहीं, यथा—'*सब बिधि सब पुर लोग सुखारी। रामचंद्र मुख चंद्र निहारी॥*' इस भाँति चार दिन बीत गये। पहले ही अवधवासियोंने विदेहराजका आगमन सुनकर हिसाब लगाया था कि चार दिन तो और रहना हुआ, यथा—'*अस मन आनि मुदित नर नारी। भयउ बहोरि रहब दिन चारी॥*' रामजीका रुख देखकर सबको निराशा हो गयी थी, सम्भावना हो रही थी कि उसी दिन अयोध्या लौट जानेको कहें। जनकजीका आगमन सुनकर हिसाब लगाया कि आज तो जनकजी आते नहीं, तीर्थमें आ रहे हैं, आनेपर तीन रात्रि निवास अवश्य करेंगे, अत: चार दिन और रहनेका अवसर मिल गया। वे चार दिन भी सुखसे बीत गये। (वि० त्रि०)।

नोट—२ '*कोटि अमरपुर*' क्योंकि वहाँ गङ्गा यहाँ मन्दाकिनी जिसकी वह भी ईर्ष्या करती है, वहाँ कल्पवृक्ष यहाँ सारे पर्वत, वन कामद, वे श्रीरामके लिये तरसते हैं, हमारे साथ श्रीरामजी हैं, वहाँ नन्दनवनमें विहार यहाँ राम-गिरि-वन आदिमें विहार, वहाँ अमृत, यहाँ '*असनु अमिय सम कंद मूल फल*' इत्यादि। इन्द्र आदिको भय रहता है और यहाँ '*रामदरसु मुद मंगल माला*' है।

नोट—३ '*दुइ साता*'=दो सात=७/७=१४। अल्पवाचक '*दुइ*' शब्द प्रथम देकर जनाया कि १४ वर्ष हैं ही कितने, थोड़े ही तो हैं। कोई वस्तु कैसी ही भारी हो उसके कई भाग हो जानेसे वह बहुत नहीं जान पड़ती, थोड़ी जान पड़ती है और उसीको एकत्र कर दो तो बहुत बड़ी या भारी जान पड़े।

नोट—४ '*पल सम होहिं न जनिअहिं जाता।*' सुखके दिन इसी तरह बीत जाते हैं, यथा—'*प्रेममगन कौसल्या निसि दिन जात न जान।*' (१। २००) '*ब्रह्मानंद मगन कपि सबके प्रभु पद प्रीति। जात न जाने दिवस तिन्ह गए मास षट बीति॥* (७।१५)। इत्यादि।

नोट—५ '*राम निरखि नर नारि सुखारी*' कहकर '*सुख समेत संबत*……' तक उनका अनुराग, उनका सुख, उनका मनोरथ कहा। आगे '*एहि सुख जोग*……*अस भाग*' से भावी वियोग कहा।

नोट—६ '*एहि बिधि सकल*……' इति। जैसा ऊपर '*दुहुँ समाज अस रुचि*……' (२८०। २) से '*कहाँ अस भागु॥*' (२८०) तक कह आये। '*बचन सप्रेम*……' श्रीरामानुराग ऐसा ही पदार्थ है। यह अनुराग मनको हर लेता है।

श्रीअवध-मिथिला-राजमहिला-सम्मेलन

सीयमातु तेहि समयँ पठाईं। दासी देखि सुअवसर आईं॥ २॥
सावकासु सुनि सब सियसासू। आयेउ जनकराज-रनिवासू॥ ३॥
कौसल्याँ सादर सनमानी। आसन दिये समय सम आनी॥ ४॥
सीलु सनेह सकल* दुहुँ ओरा। द्रवहिं देखि सुनि कुलिस कठोरा॥ ५॥

* यही पाठ राजापुर, रा० प०, पं० रा० गु० द्विवेदी, वन्दन पाठकजी तथा पंजाबीजीका है। पर पाठकजीकी प्रतिमें हाशियेपर 'सरिस' भी है। भागवतदासजीने 'सरस' पाठ दिया है। 'सरस' से अर्थ होगा कि खूब बढ़ा हुआ है।

शब्दार्थ—**सावकासु**=अवकाश, छुट्टी, खाली,मौका=फुर्सतसे, सुभीते हो।

अर्थ—उसी समय श्रीसीताजीकी माता श्रीसुनयनाजीकी भेजी हुई दासियाँ (अवध-रनवाससे मिलनेका) अच्छा मौका देखकर आयीं॥ २॥ श्रीसीताजीकी सब सासुओंको खाली सुनकर जनकराजका रनवास आया॥ ३॥ श्रीकौसल्याजीने सबका आदर-सम्मान किया और समयानुकूल आसन लाकर दिये॥ ४॥ दोनों तरफ सबके सम्पूर्ण प्रकारसे शील और प्रेमको देखकर कठोर वज्र भी देख-सुनकर पिघल जाते हैं॥ ५॥

टिप्पणी पु० रा० कु०—१ *'पठाईं'* कि देख आवें सब भोजन कर चुकीं, खाली हैं, किसी काममें तो नहीं लगी हैं। *'सुअवसरु'* ताकनेसे काम बनता है, यथा—*'समरथ कोउ न राम सो तीय हरन अपराधु। समयहिं साधे काज सब समय सराहहिं साधु॥'* (दो० ४४८)।

टिप्पणी—२ *'आयेउ जनकराज-रनिवासू'* इति। श्रीजनकमहाराज दो भाई हैं। कुशध्वजजी सहोदर भ्राता हैं। इन दोनोंकी रानियाँ आयीं। और श्रीजनकजीके आठ विमातृ भ्राता हैं उनकी रानियाँ आयीं। श्रीसुनयनाजी जनकपाटमहिषी हैं। सौतेले भाइयोंकी रानियोंके नाम चन्द्रकान्ति, विदग्धा, शुभदा, सिद्धा, मोहिनी, शोभनाङ्गी, विलक्षा और विनीता इत्यादि हैं। इत्यादि सब जनक रनिवास है। (वै०)।

टिप्पणी—३ *'आसन दिये समय सम आनी'* अर्थात् शोकका समय है और वनमें हैं, पुनः सभी नेम-व्रत धारण किये हुए हैं, इससे चाहे कुशासन ही हो और गर्मीके दिन हैं इत्यादि। इससे साधारण शीतल आसन दिया जो वहाँ मौजूद था। स्वयं लाकर दिया यह सम्मान है। आइये बैठिये, यहाँतक आनेमें बहुत कष्ट हुआ होगा इत्यादि शिष्टाचार भी सम्मान है। [बैजनाथजीका मत है कि साधारण आसन चाँदना, कालीन, गलीचा आदि बैठनेको दिया। बाबा हरिहरप्रसादजी मृत्युके कारण काले या हरे रंगका आसन देना कहते हैं। प० प० प्र० स्वामीका मत है कि काले या हरे रंगका आसन दिया ऐसा समझनेकी आवश्यकता नहीं है। भरतजी *'बनहिं देब मुनि रामहि राजू'* इस विचारसे यहाँ आये थे; अतः सिंहासन तथा अन्य 'वर आसन' अवश्य साथमें लाये होगें। पर जबतक श्रीरामजी कुशासनपर बैठते हैं तबतक रामभक्त, रामप्रेमी उत्तम आसनपर बैठना कब स्वीकार करने लगे। जैसे *'इहाँ उचित नहिं असन अनाजू'* वैसे ही यहाँ दूसरा आसन वे कब उचित समझेंगे। यदि आज श्रीरामजी अभिषेक करा लेते तो सबको रत्नसिंहासन ही बैठनेको दिये जाते। आगे भी जब श्रीजनकमहाराज भरतजीके पास जाते हैं तब भी कहा है— *'भरत आइ आगे भइ लीन्हें। अवसर सरिस सुआसन दीन्हें॥'* इसमें भी वही भाव है। इस भावकी पुष्टि *'सील सनेह सकल दुहुँ ओरा'* से भी होती है।

टिप्पणी—४ *'देखि सुनि'* अर्थात् शील-स्नेहसे जो आचरण हो रहे हैं उनको देखकर और उनमें पगे हुए वचन सुनकर कठोर वज्र भी पिघल जाते हैं, साधारण कठोर हृदयोंकी बात ही क्या! स्नेहका स्वरूप ऐसा ही है, यथा—*'जबहिं राम कहि लेहिं उसासा। उमगत पेम मनहुँ चहुँ पासा॥ द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना। पुरजन पेम न जाइ बखाना॥—॥'* (२२०। ६-७) विशेषभाव २२०। ६ में देखिये।

पुलक सिथिल तनु बारि बिलोचन। महि नख लिखन लगीं सब सोचन॥ ६॥
सब सियराम प्रीति कि सी* मूरति। जनु करुना बहु बेष बिसूरति॥ ७॥
सीयमातु कह बिधि बुधि बाँकी। जो पयफेनु फोर पबि टाँकी॥ ८॥

दो०—सुनिअँ सुधा देखिअहिं गरल सब करतूति कराल।
जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल॥ २८१॥

शब्दार्थ—**'बिसूरति'** (सं० विसूरण)=दुःख, शोक या चिन्ता करती हैं। **'बाँकी'**=विचित्र, टेढ़ी, तीक्ष्ण। **फोर**-फोरना (फोड़ना)=तोड़ना, टुकड़े करना। **टाँकी**=छेनी। सकृत=एक।

* सि—गी०प्रे०। सीं—ला० सीताराम। सी—को० रा० प्रे० नं०प०।

अर्थ—शरीर पुलकित और शिथिल है, नेत्रोंमें जल भरा है। सब अपने (पैरके) नाखूनसे पृथ्वीपर लिखने और सोचने लगीं॥ ६॥ सब श्रीसीतारामजीके प्रेमकी मूर्ति-सी हैं। मानो करुणा ही बहुत-से वेष धरकर शोक और चिन्ता कर रही॥ ७॥ श्रीसीताजीकी माताने कहा कि विधाताकी बुद्धि बड़ी बाँकी है, जो दूधके फेनेको वज्रकी टाँकीसे फोड़ती है॥ ८॥ अमृत सुननेमें आता है और विष प्रत्यक्ष दिखायी पड़ता है। उसकी सब करनी भयंकर और कठोर है। जहाँ-तहाँ कौवे, उल्लू, बगुले ही दिखायी देते हैं, हंस तो एक मानसरोवरमें ही हैं॥ २८१॥

नोट—१ **'महि नख लिखन लगीं सब सोचन—'** इति। ☞ यह शोचकी एक मुद्रा है। स्त्रियाँ प्रायः शोचमें मग्न हो पद-नखसे पृथ्वीपर रेखाएँ बनाती हैं, पृथ्वीको कुरेदती हैं। ५८ (५) ***'चारु चरन नख लेखति धरनी'*** देखिये।

नोट २ (क) ***'जनु करुना बहु बेष बिसूरति'***— ७०० रानियाँ दशरथजीकी हैं और जनक-रनवास ये सब-की-सब सोचमें मग्न नखोंसे जमीन कुरेदती हैं, उनका इसी तरह बैठे सोच करना उत्प्रेक्षाका विषय है। सबकी चेष्टाएँ ऐसी हैं मानो 'करुणा मूर्तिमान्' इतने शरीर धारण किये बैठी है।

पु० रा० कु० १— एक तो करुणा, दूसरे शरीर धारण किये है, तीसरे वह भी सोच करती है; यह कहकर करुणरसका अतिशय आधिक्य दिखाया है। अतिशय प्रेम है इससे प्रेमकी मूर्ति कहा और अतिशय करुणा कर रही हैं इससे करुणाकी मूर्ति कहा।

* 'सीयमातु कह बिधिबुधि बाँकी।—' *

पु० रा० कु० २— यहाँ पहले श्रीसुनयनाजीका बोलना कहकर जनाया कि उनकी बुद्धि बड़ी पैनी है। दूसरे श्रीकौसल्यादि दुःखसे बहुत विह्वल हैं इससे उनका बोलना प्रथम न कहा यद्यपि दुःखी ये भी हैं पर उतनी नहीं। [***'कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा'*** सब सुमगुम हैं, इस दशामें श्रीसुनयनाजीने मार्ग निकाला, इन्होंने बोलना प्रारम्भ किया। इससे यह तर्क निकालना कि ये उतनी विकल नहीं हैं पूर्व संदर्भके विरुद्ध है। दोहा २७०, २७७ देखिये (प० प० प्र०)।]

पां०— यहाँ अन्योक्ति अलङ्कारद्वारा श्रीसुनयनाजी विधिके बहानेसे कैकेयीका करतब वर्णन करती हैं। यहाँ दशरथ-कौसल्या-रघुनाथका संयोग पयफेन है, कैकेयी वज्रकी टाँकी है, मन्थरा हथौड़ी है, ठोकनेवाली सरस्वती हैं— इन तीनोंने मिलकर उस संयोगरूपी पयफेनको तोड़कर अलग-अलग कर दिया। अर्थात् ये सब एकत्र थे; वज्र टाँकीसे फोड़ा; कैकेयीद्वारा वर मँगवाकर सबको तितर-बितर कर दिया। राजा स्वर्गवासी हुए, श्रीरामजी चित्रकूट वा वनवासी हुए और कौसल्याजी अवधमें रह गयीं। वज्रकी छेनी अकेले कुछ नहीं कर सकती, उसके लिये और तीनका योग होना चाहिये—हथौड़ी, निहाई और ठोकनेवाला। वैसे ही यहाँ कैकेयी कुछ न कर सकती—मन्थरा, अवधवासी और सरस्वतीके योगसे वह इस कार्यमें समर्थ हुई। मन्थरा हथौड़ी है, अवधवासी निहाई हैं और सरस्वती ठोकनेवाली हैं। (रा० प्र०)।

रा० प्र०— कोई-कोई कहते हैं कि यहाँ श्रीराम, महाराज दशरथ और कौसल्याजी पयफेन हैं, श्रीअयोध्याका ऐश्वर्य पय है, अवधनगर पात्र है। श्रीराम-दशरथ-कौसल्याजी पयफेनवत् एकत्र थे। वे पबिटाँकीसे फोड़े गये जिससे तीनों तीन ठौर (तितर-बितर) हो गये। (यह पाँड़ेजीका भाव है। विशेष पा०में देखिये)।

पु० रा० कु० ३— (१) बुद्धि बड़ी टेढ़ी या तीक्ष्ण है कि दूधके फेनसे वज्रमें टाँकी देकर फोड़ती है। आशय यह कि कैकेयीका स्वभाव पयफेनसम है, रामको वनवास देना वज्रमें टाँकी लगाना है। दूधका फेन दे-देकर वज्रके पर्त उतारे जाते हैं, दूधकी लकीर खींचनेसे वह साबित उतरता है। उसीसे इसका दृष्टान्त दिया। अथवा, (२) पयफेनको वज्रकी छेनीसे फोड़ता है अर्थात् राम कोमल पयफेन-सरीखे हैं। उनको वन देना वज्र-टाँकीसे फोड़ना है।

मा० म०—पुनः विधिके इशारेसे जलके फेनसे नमुचि नामक दैत्यको इन्द्रने मारकर दो टुकड़े कर

दिये थे; यथा— *'असर अजय कुलिसहुँ नाहिंन बध सो पुनि फेन मथ्यो।'* (वि०२३९)। इसी तरह फेनसम राम वज्रसमान रावणादिको मारेंगे यह विधिकर्त्तव्य है। वा, कैकेयी-दशरथका प्रेम वज्रवत् था। उसको मन्थरा दासीके द्वारा फेर दिया, अतः टेढ़ी बुद्धि है इत्यादि।

अ० दी० च०—ब्रह्माकी बुद्धि टेढ़ी है जिसने पयफेनको फोड़कर वज्रपर उसका टाँका दिया है। यहाँ श्रीरामजी पयफेनवत् कोमल हैं। उन्हें १४ वर्षका वनवास तीव्र वज्रवत् कठोर दिया अर्थात् श्रीरामचन्द्ररूपी पयफेनको फोड़कर वनवासरूपी टाँका रावणरूपी वज्रपर दिया। तात्पर्य कि परम कोमल श्रीरामचन्द्रजीसे वनवासके बहाने वज्रवत् रावणका नाश कराना चाहता है, यह माधुर्य है। अथवा क्षीरफेनवत् कोमल बलहीन रावणके लिये वज्रवत् कठोर महाबलशाली श्रीरामचन्द्रजीको परिश्रम दिया; यह ऐश्वर्य है। उसने यह नहीं विचारा कि पयफेन फूटनेपर नहीं बनता।

मा० म०—(१) कैकेयीकी बुद्धि पयफेन है। मन्थराकी बुद्धि टाँका है और अवधेशजी पवि हैं। अर्थात् कोमल स्वभाववाली कैकेयीके चित्तको फोड़कर उसमें मन्थराकी कही हुई वाणीको कहलाकर राजाको पीड़ित कर दिया। अथवा, (२) मन्थराकी बुद्धिरूपी फेनको फोड़कर कैकेयीरूपी टाँकी राजारूपी वज्रपर लगायी। अर्थात् मन्थराके चित्तको भेदन किया जिसने कैकेयीको बहकाया और राजा कैकेयीकी बातोंसे दुःखी हो गये। अथवा, (३) कैकेयीकी कपट चतुराईरूपी फेनको फोड़कर वरदानरूपी टाँकीसे राजाको दुःखित किया। (अ०दी०च०)।

वै०—परम कोमल श्रीरामजीको वनवास देना और शुद्ध धर्मात्मा रामसनेही श्रीदशरथको उत्सव-समय पुत्रवियोगसे प्राण त्याग कराना पयफेनको वज्रकी टाँकीसे फोड़ना है।

पं०—दैवगति अत्यन्त अद्भुत है कि दूधके फेनको फोड़कर वज्रकी टाँकीसे जोड़ती है। अथवा, विधिमति क्षीरफेन है जो वज्रकी टाँकीको फोड़ देती है। भाव यह कि राजाकी अत्यन्त दृढ़ मतिको ब्रह्माने नारीके वचनसे फोड़ दिया। अथवा, पयफेन (रूप रामजीको) वज्रकी टाँकीरूप वनवाससे कष्ट दिया।

श्रीपोद्दारजी—दूधके फेन-जैसी कोमल वस्तुको वज्रकी टाँकीसे फोड़ रहा है। अर्थात् जो अत्यन्त कोमल और निर्दोष हैं उनपर विपत्ति-पर-विपत्ति ढहा रहा है। (मानसाङ्क)।

वि० त्रि०—*'सीयमातु कह मराल।'* इति। चक्रवर्तीजीके देहावसानके बाद सुनयनाजी पुछार (मातमपुरसी) के लिये आयी हैं। अतः वार्ता आरम्भ उन्हींको करना चाहिये। वार्तारम्भ वहाँ सिवा कैकेयी महारानीपर आक्षेपके और किसी तरह हो नहीं सकता। महारानी कैकेयी समधिन हैं और वहाँ बैठी हुई हैं, अतः बड़ी बुद्धिमानीसे सुनयनाजीने ब्रह्मदेवकी बुद्धिकी कठोरतापर आक्षेप करते हुए सब कुछ कह डाला। वे कहती हैं कि ब्रह्मदेवकी बुद्धि ऐसी टेढ़ी है कि दूधके फेनको वज्रकी टाँकीसे फोड़ा। यहाँ अँटकलसे काम लेनेसे निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं हो सकती। यहाँ उपमा-ही-उपमा है, उपमेयका कहीं पता नहीं है, अतः देखना पड़ेगा कि अन्य स्थानोंमें इन उपमाओंके उपमेयरूपसे कविने किसे माना है।

राजकी उपमा दूधसे दी गयी है, यथा—*'भामिनि भयउ दूध कै माखी।'* जब राजपद दूध हुआ, तब युवराजपदको उसका फेन मानना ठीक है। सो दूधका फेन तो मुखके फूँकसे फूट जाता है। भाव यह कि रामजीका युवराज होना तो कैकेयी महारानीके केवल मुखसे कह देनेसे भङ्ग हो सकता था, उसके लिये वज्रकी टाँकी रामजीके वनकी कौन आवश्यकता थी, पर ब्रह्माको ऐसा ही मंजूर था, अतः वैसा ही किया। दूधके फेनको वज्रकी टाँकीसे फोड़ा। फल यह हुआ कि दूध तो नष्ट ही हो गया। दूध (राज्य) का आधारभूत कटोरा भी हाथसे गया अर्थात् चक्रवर्तीजीका देहावसान हो गया। यथा—*'भयेउ कोलाहल नगर अति सुनि नृप राउर सोर। बिपुल बिहग निसि परेउ जनु मानहु कुलिस कठोर॥'*

दूसरी बात भी उसी भाषामें कह रही हैं कि सुना गया अमृत, देखनेमें आया विष। यहाँ अमृत रामका राज्य है, यथा—*'एहि सुख सुधा सींचि सब काहू। देव देहु जग जीवन लाहू॥'* विष रामजीका विरह है, यथा—*'लोग बियोग बिषम बिष दागे।'* काक छली मलीन और अविश्वासी लोग हैं, यथा—

'छली मलीन कतहुँ न प्रतीती।' उलूक संत निन्दक हैं, और बक दगाबाज हैं, इन्हींकी संसारमें बहुतायत है। भावार्थ यह कि ऐसे ही किसीके बहकावेमें कैकेयी महारानी आ गयीं। वे ही निकट थे; हंस तो बड़ी दूर मानसरोवरमें केवल होते हैं। अर्थात् भरतजी उस समय कैकय देशमें थे। इसीसे यह दुर्घटना हुई।

* 'सुनिअ सुधा देखिअ गरल सब करतूति कराल'*

पूर्व कहा था कि बुद्धि बाँकी है और अब करनीको कठोर कहती हैं।

पाँड़ेजी—१ (क) विधाताकी करनी कराल है कि उसने रामचन्द्रको वनवास दिया। सीधे-सीधे ऐसा न कहकर उसको यों कहती हैं—सुनती थी कि कैकेयीके किसी अङ्ग (होठों) में अमृत है पर निकलनेपर जब देखा गया तो विष निकला—[राजा इसे देखकर (अमृत पानकर) जीते थे, यथा—*'मन तव आनन चंद चकोरू'*; ऐसा सुना था पर चन्द्र और अमृतकी जगह वहाँ सर्प और विष देख पड़ा—*'सरोष भुअंगभामिनि बिषम भाँति निहारई। दोउ बासना रसना दसन बर मरम ठाहरु देखई'*—उसने मार ही डाला—पुनः, (ख) दूसरा अर्थ यह कि सुना था अमृत अर्थात् रामराज्याभिषेक और देखनेमें आया विष वनवास। यथा—*'का सुनाइ बिधि काह सुनावा। का देखाइ चह काह देखावा॥'* (४८। १) पुनः, (ग) कैकेयी और रामजीमें बड़ा प्रेमरूपी अमृत सुना था पर महाविरोधरूपी गरल प्रकट देखनेमें आया।

'सब करतूति कराल'—भाव कि चाहिये तो यह था कि अमृत सबको देखने और बरतनेको मिलता और विष कहीं ऐसे दुर्घट स्थानमें रहता कि लोग वहाँतक पहुँच ही न पाते, सुनते रहते कि विष कोई वस्तु है। ऐसा न करके उसने अमृतको दुर्गम स्थानमें रखा और विषको सर्वत्र सुलभ रखा जिसमें लोग विशेष मरें, अतः करतूतको 'कराल' कहा। विशेष भाव टिप्पणियोंमें हैं।

२— *'जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल'* इति।—काक, उलूक, बक इन तीनों पक्षियोंके गुण कैकेयीमें आरोपण करके कहती हैं। किसीकी प्रतीति न मानना और कठोर बोलना कौवेका गुण है। यह गुण कैकेयीमें प्रत्यक्ष है। उल्लू अँधेरेमें प्रसन्न रहता है, कैकेयी राजाको मारकर अँधेरे अवधमें प्रसन्न हुई। रघुनाथजीमें अपना प्रेम दिखा सबको विश्वासमें रखा, पीछे अनर्थ किया, यह बगुलाका गुण है। मरालरूप लक्ष्मण-भरत हैं। उदाहरण—*'काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥'*; वैसे ही इसको किसीके कहने-समझानेपर विश्वास न आया, नीच मन्थराके साथ यह भी मलीन हो गयी—*'रहै न नीच मते चतुराई।'* पुनः, *'अथयेउ आजु भानुकुल भानू'* इत्यादि अनर्थ होनेपर भी वह खुश रही, भरतजीको समझाती थी कि शोक न करो, यह उलूककी करनी कि भानुके अस्त होनेपर भी वह सुखी होता है। पुनः, राजाका जीवन प्रभुके दर्शनके अधीन था—*'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि—'* यह जानकर भी उसने बगुलारूप हो जलमेंसे मछलीरूप राजाको खा लिया।

शीला—(१) रामराज्य सुधा है, अमर करके सबको निजधाम ले जानेवाला है, यह सुननेमें आया। हुआ वनवास विष यह प्रत्यक्ष देखा जिसने राजाको मार डाला। अवधवासी इससे न मरे कि उन्हें भरतने मन्त्र-ओषधिसे जीवित रख लिया—*'मंत्र सबीज सुनत जनु जागे'*, नहीं तो ये भी मृतप्राय थे।

(२) रामवनगमनमें देवता काकरूप हैं—*'काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥'* देवता क्यों उनको वन ले गये, इसका कारण उलूकरूप निशाचर हैं—*'सहज पाप प्रिय तामस देहा। जथा उलूकहि तमपर नेहा॥'* पर निशाचर तो एक वर्षमें ही सब मरेंगे; १३ वर्ष और क्यों वनवास कराया, इसका कारण बकरूप किरात हैं। उनके निर्धारहेतु वनवास इतने दिनका हुआ—किरात साधुरूप हो गये—*'भए सब साधु किरात किरातिनि रामदरस मिटि गइ कलुषाई'*, शबरी आदिको गति दी इत्यादि। भतरजी मराल हैं यथा—*'भरत हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुनदोष बिभागा॥'*

रा० प्र०—अमृत सुननेमात्रको है और विष देखनेमें आता है अर्थात् सुखदायी पदार्थ सुनने ही भरको था और जो दुःखदायी है वह देखनेमें आया। राज्य श्रवणमात्र हुआ, वन प्रत्यक्ष देख पड़ा। विधिकी सब

करनी भयावनी है। इसी प्रकार काक उलूक बक सभी ओर देख पड़ते हैं और हंस एक मानसरोवरमें ही हैं। 'शोक, मोह और व्याकुलतारूप काक-उलूक-बक सब ओर हैं। मानसरोवरमें अर्थात् रघुनाथजीके निकट हंसरूप श्रीजानकी-लक्ष्मण ही हैं।'

पु० रा० कु० ४—कैकेयी-मन्थरा काक-उलूक-बकवत् हैं। ऐसे आचरणवाले बहुत देखनेमें आते हैं, पर श्रीजानकी-लक्ष्मणजी-सरीखे हंस कहीं ही देखनेमें आते हैं। वा, भरत-से हंस कहीं ही देख पड़ते हैं। [कोई ऐसा भी कहते हैं कि देवता काकवत् हैं, मंथरा-कैकेयी उलूकवत् हैं इसीसे *'सुनत तिलक भा उर दाहू'* और सरस्वती बकवत् है, ऊपरसे राममें कैसा प्रेम कि *'एकटक रही राम अनुरागी'* और भीतरकी मलिन निकली। ('तीनों पक्षियोंके ही दृष्टान्त दिये' क्योंकि ये पक्षपाती हैं)। पं० विजयानंद त्रिपाठीजीके टिप्पण ऊपर आ चुके हैं।]

नं० प०—*'जहँ तहँ काक'* इति। जहाँ-तहाँ काक-उलूक-बक रहते हैं। मराल तो केवल एक मानसरहीमें सुखसे रहता है सो उस मरालको जहाँ-तहाँ कर दिया कि आज यहाँ है, कल वहाँ है। भाव यह कि श्रीरामजी मरालकी तरह मानसर जो श्रीअवध है उसीमें सुखसे रहनेवाले हैं, उनको आज इस वनमें कल उस वनमें कर दिया। ऐसी कठोर करतूति ब्रह्माकी है। काक-उलूक-बकको जहाँ-तहाँ, अर्थात् आज यहाँ हैं, कल वहाँ हैं, जहाँ भी उन्हें कर दीजिये वहीं सुखी रहेंगे। पर मराल एक मानसरहीमें सुखी रहेगा।

वीरकवि—यहाँ श्रीसुनयनाजीको कहना तो यह है कि कैकेयीके हृदय-मानसमें छल, पाखण्ड, द्वेष आदि कौए उल्लू भरे हैं, एक भरत ही हंसरूप प्रकट हुए हैं। पर उसे न कहकर ब्रह्माकी करतूत वर्णनकर प्रतिबिम्ब मात्र कहना 'ललित अलङ्कार' है। पुनः कहना तो है कार्यरूप रामचन्द्रजीका राजोत्सव भंग और वनवास, उसे न कहकर कारणरूप ब्रह्माकी वामता कहना जिससे असली बात प्रकट हो जाय 'अप्रस्तुत प्रशंसा अलङ्कार' है।

नोट—३ जगन्नाथमिश्ररचित सभातरंग ५। ११ में मिलता-जुलता श्लोक यह है—'अमृतं श्रूयते स्वर्गे विषमत्र प्रदृश्यते। यत्र यत्र भेकाः केका हंसाः सरसि मानसे॥'

सुनि ससोच कह देवि सुमित्रा। बिधि गति बड़ि बिपरीत बिचित्रा॥ १॥
जो सृजि पालइ हरइ बहोरी। बालकेलि सम बिधि मति भोरी॥ २॥
कौसल्या कह दोसु न काहू। करम बिबस दुख सुख छति लाहू॥ ३॥
कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता॥ ४॥
ईस रजाइ सीस सबही के। उतपति थिति लय बिषहु अमी के॥ ५॥
देबि मोह बस सोचिअ बादी। बिधि प्रपंचु अस अचल अनादी॥ ६॥

अर्थ—यह सुनकर देवी सुमित्राजी शोकसे कहती हैं कि विधाताकी चाल बड़ी ही विपरीत और विचित्र है॥ १॥ जो उत्पन्न करके पालता है और फिर नष्ट कर डालता है। लड़कोंके खेलके समान विधाताकी बुद्धि भोली है॥ २॥ (इसपर) श्रीकौसल्याजी कहती हैं कि दोष किसीका नहीं। कर्मके विवश दुःख-सुख, हानि-लाभ होते हैं॥ ३॥ कठिन कर्म-गतिको विधाता ही जानते हैं जो सबको शुभ और अशुभ सभी फलोंका देनेवाला है॥ ४॥ ईश्वरकी आज्ञा सबके सिरपर है। उत्पत्ति, स्थिति (पालन), संहार, विष और अमृतके भी (सिरपर है)॥ ५॥ हे देवि! आप मोहवश व्यर्थ सोच करती हैं, विधाताका मायाजाल ऐसा ही अचल और अनादि है अर्थात् अनादिकालसे ऐसा ही एकरस अटल चला आता है॥ ६॥

नोट—१ (क) *'सुनि ससोच कह देवि सुमित्रा।'* इति। सुनयनाजीने कैकेयीकी करनीको ब्रह्माके बहानेसे व्यङ्गपूर्वक कहा। उसको सुन-सोचकर सुमित्राजीने उस दोषको ब्रह्माके ऊपर रख दिया और कौसल्याजीने सबको निर्दोष कहकर अपने कर्मोंको प्रधान रखा। (पां०)। (ख) *'बिधि गति बड़ि बिपरीत बिचित्रा'* इति। भाव कि अमृतको चाहिये कि घर-घर मिलता जिससे सब सुखी रहते, सो सुननेमें ही आता है,

देखनेमें नहीं। विष चाहिये था कि छिपा रहता क्योंकि मृत्युकारी है सो सब जगह है, धतूरा, संखिया कुचला, भेलावाँ आदि विषैली वस्तुएँ, विषैले सर्पादि सर्वत्र हैं। इसीसे घर-घर दु:ख, शोक, मृत्यु आदि देख पड़ते हैं (पु० रा० कु०)। अ० दी० कारका मत है कि राज्य मिल रहा था सो वनवास दे दिया यह विपरीत बात हुई और उसमें विचित्रता यह है कि अवधवासियोंको वनमें दु:खके बहाने श्रीरामदर्शनका सुख प्राप्त हो रहा है। (अ० दी० च०)।

नोट—२ *'जो सृजि पालइ—'* इति। बड़ी विपरीत और विचित्र कहकर उसका उदाहरण देती हैं। जिसको जो पैदा करता है, पालन करता है उसको मारता नहीं, विषका पौधा लगाकर उसे उखाड़ते नहीं। पर विधाता जिसको पैदा करता है उसीको मार भी डालता है—यही विपरीतता और विचित्रता है। अज्ञानी बालकोंकी-सी बुद्धि है जैसे लड़के बाल-क्रीड़ामें घरौंदा बनाते, बिगाड़ते हैं वैसे ही कार्य विधाताके हैं। स्वयं बनाकर बिगाड़नेमें किञ्चित् दु:ख उसको नहीं होता, उसकी यह बालकेलि है।

प० प० प्र० स्वामीका मत है कि ''यहाँ, विधि=ईश्वर। क्योंकि ब्रह्मा केवल सृजन करते हैं और यहाँ उद्भव, स्थिति, संहार तीनों कार्य विधिके कहे हैं। अत: सुमित्राजी श्रीसुनयनाजीके वचनोंका तत्त्वत: खण्डन करके **'ईश्वरेच्छा बलीयसी'** यह सिद्धान्त बताती हैं क्योंकि वे जानती हैं कि श्रीराम ही ईश्वर हैं, अत: उन्होंने कैकेयीको निर्दोष सिद्ध किया। **'विषमप्यमृतं क्वचिद् भवेदमृतं विषमीश्वरेच्छया।'** इससे *'सुनिअ सुधा—कराल'* का भी निराकरण हो गया।'' बालकेलि=बच्चोंका खेल। खेलमें हार-जीत, कलह, रोना-पीटना आदि सब कुछ होता है। पर खेलके पूर्वापर कालोंमें बच्चे खेलका सम्बन्ध भूल जाते हैं। खेलकी रचना करनेमें आनन्द मानते हैं और खेलके समेटनेमें भी। इसी प्रकार ईश्वर भी उदासीन रहकर उत्पत्ति, स्थिति, संहार करता है। उनमें वैषम्य, नैर्घृण्य नहीं है। (प० प० प्र०)

पु० रा० कु०—१ (क) श्रीसुमित्राजी भी श्रीसुनयनाजीके अनुकूल ही बोलीं। उन्होंने विधिको दोष दिया—*'बिधि बुधि बाँकी', 'करतूति कराल कठोर'*; वैसे ही इन्होंने कहा— *'बिधिगति बड़ि बिपरीत बिचित्रा', 'बालकेलि सम बिधिमति भोरी।'* अर्थात् उनकी बातका इन्होंने समर्थन किया। क्योंकि सुमित्रा हैं, सुष्ठुमित्रा हैं, इन्होंने उनके मनकी कही। अथवा, इन्होंने *'ससोच'* कहा, शोकके वश विधिको दोष दिया; इसीसे कौसल्याजीने सबको निर्दोष किया। ये सबमें पण्डिता हैं और राममाता हैं। जैसे श्रीरामने सबको निर्दोष किया, वैसे ही इन्होंने किया। (ख) वे कहती हैं कि विधिका दोष नहीं, वह तो केवल कर्मका फल देते हैं, किसीको सुख-दु:ख नहीं देते, न किसीको भला या बुरा बनाते हैं, यह सब कर्मफल हैं—*'कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥'* (२१९। ४) जो जैसा करता है उसकी 'चाकरी' देख उसको वैसा ही फल (मजूरी) दे देते हैं। इतना ही उनका काम है। उनको किसीसे न राग है, न द्वेष। *'करम बिबस सब होहिं गोसाईं। बरबस राति दिवस की नाईं॥'* (१५०।६) का जो भाव है वही यहाँ *'करम बिबस दुख सुख—'* का भाव है। इस प्रकार इन्होंने कर्मको ही प्रधान ठहराया—कर्मविपाक सिद्धान्तको दृढ़ किया। (ग) इसीको आगे पुष्ट करती जाती हैं कर्मकी गति बहुत कठिन है, यथा—**'गहना कर्मणो गति:।'** (गीता ४।१७) उसको सब समझ नहीं सकते [यही बात भागवतमें जनक महाराजसे नवयोगेश्वरोंने कही है और वाल्मीकीयमें रामजीने बालिसे कही है—(खर्रा)] विधि ही जानते हैं। जीव नहीं जान सकता। इसीसे वे गतिको जानकर शुभ कर्मोंका शुभ और अशुभ कर्मोंका अशुभ फल देते हैं। अपनी तरफसे न किसीको शुभ बनाते न अशुभ। यथा—*'जीव करम बस सुख दुख भागी॥'* (१२। ४), *'सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईस देइ फल हृदय बिचारी॥'* (७७। ७) इसीको और पुष्ट करती हैं—*'ईस रजाइ सीस सबही के।'* सब ईश्वरकी आज्ञाका पालन कर रहे हैं। ब्रह्मादि जो कर्मफल देते हैं वह भी ईश्वरकी आज्ञासे, उनको इसीका अधिकार दिया गया है कि कर्म देखकर उसके अनुकूल प्रारब्ध शरीर बना दें। एक विधि ही नहीं सभी आज्ञा पालन कर रहे हैं यही बात वसिष्ठजीने भरत-वसिष्ठगोष्ठीमें कही थी—किंतु *'बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम*

कुलि काला॥ अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई॥ करि बिचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबही के'॥ (२५४।६—८) वहाँ कवि विस्तृतरूपसे कह आये हैं इससे यहाँ संक्षेपमें कहते हैं। सारांश यह कि ईश्वरकी इच्छा प्रबल है, किसीका दोष नहीं।

वि०त्रि०—कौसल्याजी कहती हैं कि इसमें किसीका दोष नहीं। *'उमा दारु योषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं॥'* मनुष्यका दोष तो कहा नहीं जा सकता। ब्रह्माका स्वातन्त्र्य भी सापेक्ष है, ये शुभाशुभ कर्मके अनुसार ही फल देते हैं। निरपेक्ष स्वातन्त्र्य तो ईश्वरमें है; उनकी आज्ञा हटायी नहीं जा सकती। यथा, *'प्रभु अग्या अपेल श्रुति गाई।'* अतः उसके सामने सिर झुकाना ही ठीक है। *'कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि। चित खगेस रघुनाथ कर समुझि परै कहु काहि॥'*

पु० रा० कु०—२ *'उतपति थिति लय बिषहु अमी के'* अर्थात् ये भी आज्ञानुसार होते हैं। आज्ञाके बिना उत्पत्ति आदिका समय हो भी तो वह हो नहीं सकता और आज्ञा हो तो बिना समय ही यह सब हो सकते हैं—जैसे मार्कण्डेयके लिये बिना समय ही प्रलय हो गया। श्रीधरजी अपनी टीकामें लिखते हैं कि यह प्रलय सत्य है, झूठ नहीं और गोस्वामीजीने विनयमें भी यही कहा है, यथा—*'मार्कण्डेय मुनिवर्यहित कौतुकी बिनहि कल्पांत प्रभु प्रलयकारी'*— (पद ६०)। विषका काम मारना और अमृतका जिलाना है पर बिना ईश्वरकी आज्ञाके वे भी कुछ नहीं कर सकते। देवता अमर हैं फिर भी उनका नाश होता है। प्रह्लाद, शिव, मीराबाई आदि विष पीकर भी न मरे।

टिप्पणी— ३ *' देबि मोह बस सोचिअ बादी।…'* इति। (क) विधिको निर्दोष करनेके लिये इतना कहकर अब उसका खुलासा कहती हैं कि यह तो अनादि कालसे ऐसा ही होता आया है और होता जायगा, अवश्यम्भावीके लिये शोक नहीं करना चाहिये—**'तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।'** (गीता २। २७)। अतः उसका शोच करना व्यर्थ है। *'देबि'*—उत्तम स्त्रियोंके लिये यह सम्बोधन देते हैं। पुनः, भाव कि आप दिव्य हैं, आपका ज्ञान दिव्य है, आपको सोच करना व्यर्थ है। (ख) *'बिधि प्रपंचु अस अचल अनादी'* अर्थात् तीनों कालोंमें ऐसा ही है—*'अस'* (है) यह वर्तमान *'अचल'* है आगे भी टल नहीं सकता यह भविष्य और अनादि है अर्थात् भूतकालमें कबसे चला आता है कोई जानता ही नहीं। काक, उलूक, बक और विष भी अनादि कालसे चले आते हैं और हंस तथा अमृत भी—सब प्रकारकी सृष्टि अनादि कालसे है और रहेगी। कोई नयी बात हो तो सोच करते; सो यहाँ कोई नयी बात है नहीं, रोजकी वही बात है, सबपर ऐसी ही बीतती आयी है।

टिप्पणी—४ यहाँ श्रीकौसल्याजीका शील भी दिखाया। श्रीसुनयनाजीने दोष दिया तब वे न बोलीं; क्योंकि वे अतिथि हैं, पूज्य हैं घर आयी हैं, और बराबरकी हैं। सुमित्राजी छोटी हैं। जब उन्होंने कहा तब उनकी आड़से इनने कहा।

र०ब०—प्रपंच अचल अनादि है। यह बहुत ठीक ही है। संसारका लय हो जाता है पर प्रपंचका लय नहीं होता, उत्पत्ति-पालन-संहार यह कभी बन्द नहीं होता। **'संसारस्य लयो ह्युक्तो न प्रपञ्चस्य कर्हिचत्।'**

भूपति जिअब मरब उर आनी। सोचिअ सखि लखि निज हित हानी॥७॥
सीयमातु कह सत्य सुबानी। सुकृती अवधि अवधपति रानी॥८॥

दो०—लखनु रामु सिय जाहु बन भल परिनाम न पोचु।
गहबरि हिय कह कौसिला मोहि भरत कर सोचु॥२८२॥

ईस प्रसाद असीस तुम्हारी। सुत सुतबधूँ देवसरि बारी॥१॥
राम सपथ मैं कीन्ह न काऊ। सो करि कहौं सखी सति भाऊ॥२॥

अर्थ—राजाका जीना-मरना हृदयमें लाकर जो सोच करती हैं, वह हे सखि! अपने हितकी हानि

(वा, हित और हानिको) देखकर है॥ ७॥ श्रीसीताजीकी माताने (सत्य सुन्दर वाणीसे) कहा कि आपकी सुन्दर वाणी सत्य है, आप पुण्यात्माओंकी सीमा अवधके राजा दशरथजीकी रानी ही हैं (ऐसा कहना आपके योग्य ही है)॥ ८॥ श्रीलक्ष्मण, राम और सीता वनको जावें, इसका फल (अन्त) अच्छा है बुरा नहीं, (पर), दुःखित और गद्गद हृदयसे कौसल्याजी कहती हैं कि मुझे भरतकी चिन्ता है (कि रामके पीछे वियोगमें न जाने भरत कैसे जीते रह सकेंगे)॥ २८२॥ ईश्वरकी कृपा और आपके आशीर्वादसे (मुझे) पुत्र और बहू दोनों गङ्गाजल (के समान पवित्र प्राप्त हुए) हैं॥ १॥ मैंने कभी रामकी शपथ नहीं की। हे सखी! आज वह भी करके सद्भावसे कहती हूँ॥ २॥

टिप्पणी १ पु० रा० कु०—पूर्व सिलसिलेमें कहती जाती हैं। लोग सोच क्यों किया करते हैं? ***'सोचिअ सखि लखि निज हित हानी'*** अर्थात् मृत्यु आदि सोचने योग्य नहीं, यह सोच वृथा है, अज्ञानजनित है, जो शोक किया जाता है वह वस्तुतः उस प्राणीके लिये नहीं किंतु अपने स्वार्थकी हानिके विचारसे। जहाँ स्वार्थकी हानि नहीं वहाँ कोई शोक नहीं करता, यह नित्य ही देखनेमें आता है।

टिप्पणी २—***'सीयमातु कह सत्य सुबानी।'''''*** इति।—आप स्वयं सुकृती पुरुषोंकी सीमा हैं और सुकृती-अवधि दशरथजीकी रानी हैं फिर ऐसी धर्म-युक्त बातें क्यों न कहें। कौसल्याजीने कहा था कि दोष किसीको लगाना उचित नहीं, यह धर्मकी बात है, इसीसे ***'सुकृती अवधि'''''*** कहा।

टिप्पणी—३ ***'भल परिनाम न पोचु'*** अर्थात् पिताकी आज्ञाका पालन सर्व धर्मोंमें शिरोमणि है, यथा—***'पितु आयसु सब धरमक टीका।'*** (५५। ८)। पुनः, तीर्थ, ऋषि आदिका दर्शन होगा, देवताओंका भला, पृथ्वीका उद्धार और चक्रवर्ती राज्य निष्कण्टक होगा, तीनों लोकोंका आधिपत्य होगा इत्यादि। धर्म, सुयश, अकण्टक राज्यकी प्राप्ति होगी। श्रीरामजी धर्मपर आरूढ़ हैं। अतः इसका फल अच्छा ही होगा। अन्तमें सुख-ही-सुख है। धर्मसे सुख होता है। यथा—***'सुख चाहहिं मूढ़ न धर्म रता।'*** (७। १०२)। धर्मका परिणाम बुरा नहीं होता।

वि० त्रि०—***'गहबरि हिय कह''''भरत कर सोचु'*** इति। कौसल्याजी कहती हैं कि लक्ष्मण, राम और सीताके वन जानेका मुझे सोच नहीं है, क्योंकि इसका परिणाम अच्छा है (यथा—***'तात प्रेम सब जनि कदराहू। समुझि हृदय परिनाम उछाहू'***)॥ मुझे भरतका सोच है, जैसे इसके पिता कहते थे कि ***'सो सुत बिछुरत गयउ न प्राना। को पापी बड़ मोहि समाना॥'*** वैसे ही यह लड़का कहता है ***'कोटि कुलिस हिय भयउ न बेहू। जिअत दैव जड़ सबुइ सहाई'*** इत्यादि। मुझे डर लगता है कि कहीं यह अपने बापकी भाँति धोखा न दे जाय। आगे चलकर इसीका स्पष्टीकरण करती हुई कौसल्याजी कहती हैं ***'गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहे नीक मोहि लागत नाहीं॥'***

टिप्पणी ४ पु० रा० कु०—***'ईस प्रसाद''''देवसरि बारी'*** इति। अर्थात् वे स्वयं पावन और संसारको पावन करनेवाले हैं। जहाँ-जहाँ ये जायँगे वे सब पवित्र होंगे। गङ्गा तीनों लोकोंको पवित्र करती हैं, ये सब लोकोंको पवित्र करनेवाले हैं। 'ईशप्रसाद', यथा—***'इन्ह सम काहु न सिव अवराधे। काहु न इन समान फल लाधे॥'*** ***'असीम तुम्हारी'***—आपकी कृपासे—आशीर्वादसे यह बड़ोंके बोलचालकी रीति है, शिष्टाचार है। ईश=ईश्वर।=शिवजी। [यहाँ उपमान गङ्गाजलका पवित्रतारूपी गुण, उपमेय पुत्र-पुत्रवधूमें स्थापन करना 'द्वितीय निदर्शना अलङ्कार' है (वीर)।]

टिप्पणी—५ ***'राम सपथ मैं कीन्ह न काऊ।''''।'***—स्त्रियाँ प्रायः माता-पिता, भाई आदिकी कसम खाती हैं और पुत्रका शपथ ऐसा ही कोई संकट आ पड़े तो करें नहीं तो कदापि नहीं करतीं (स्मरण रहे कि न्यायालयमें भी किसी मनुष्यको पुत्रकी कसम नहीं दिलायी जा सकती)। पूर्व श्रीसीतारामजीको गङ्गाजलसे उपमा देकर फिर ***'रामसपथ मैं कीन्ह न काऊ'*** कहनेका भाव यह है कि गङ्गाजलकी शपथ कोई सहसा नहीं करता तो श्रीरामकी शपथ मैं कैसे कर सकती हूँ। पर जो आगे कहती हूँ वह सद्भावसे कहती हूँ, जो कहती हूँ वह यथार्थ है। कुछ अपनी श्रेष्ठता जनानेके लिये नहीं कहती। पुनः, सौगन्ध खाकर सद्भावसे कहनेका भाव कि यदि मैं झूठ कहती होऊँ तो मेरे सब सुकृत नष्ट हो जायँ, जो राम मुझे बड़े

सुकृतोंसे मिले हैं वे मेरे काम न आवें।—(नोट—आगे भरतजीकी बड़ाई करती हैं और यह भी कहती हैं कि भरत वनको जायँ। प्रशंसा करनेसे लोग बड़ाई करेंगे कि राममाता बड़ी सुशीला, सहृदया हैं और वन भेजना सुनकर यह न समझें कि बड़ी चतुर हैं, कैसी चतुराईसे कैकेयीसे बदला दे रही हैं; उसके पुत्रको वन भेजती हैं। इन सन्देहोंके निवृत्यर्थ अपने प्राणप्रिय पुत्रकी शपथ करती हैं।)

भरत सील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई॥ ३॥
कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाँहिं उलीचे॥ ४॥
जानउँ सदा भरत कुलदीपा। बारबार मोहि कहेउ महीपा॥ ५॥
कसें कनकु मनि पारिखि पाएँ। पुरुष परिखिअहिं समय सुभाएँ॥ ६॥
अनुचित आजु कहब अस मोरा। सोक सनेह सयानप थोरा॥ ७॥
सुनि सुरसरि सम पावनि बानी। भईं सनेह बिकल सब रानी॥ ८॥

शब्दार्थ—हीचे=हिचकिचाती है, अशक्त है [हिच खाना मुहावरा है—दीनजी]। पारिखि=जौहरी, परख या जाँच करनेवाला। परिखिअहि=परीक्षा (बुरे-भलेकी जाँच) होती है, परखा जाता है।

अर्थ—श्रीभरतजीका शील, गुण, विनम्रस्वभाव, बड़ाई (बड़प्पन, महिमा) भाईपन, भक्ति, विश्वास और अच्छाई कहते सरस्वतीकी भी बुद्धि असमर्थ हो जाती है। क्या सीपसे समुद्र उलीचा जा सकता है? अर्थात् जैसे यह असम्भव है वैसे ही सरस्वतीका वर्णन कर पाना असम्भव है, फिर और किसीकी क्या शक्ति!॥ ३-४॥ मैं सदासे भरतको कुलका दीपक जानती हूँ (एवं जानता हूँ और तुम भी जान लो), मुझसे बारंबार राजाने ऐसा कहा था॥ ५॥ सोना (कसौटीपर) कसे जानेपर और मणि जौहरीके हाथ पड़ने वा, परीक्षा होनेपर (पहचाना जाता है कि असली है या नहीं) वैसे ही पुरुषकी परीक्षा समय पड़नेपर उसके स्वभावसे स्वाभाविक ही हो जाती है॥ ६॥ परन्तु मेरा आज ऐसा कहना भी अनुचित है, शोक और स्नेहमें चतुरता कम हो जाती है॥ ७॥ गङ्गाजीके समान पवित्र वाणी सुनकर सब रानियाँ स्नेहसे व्याकुल (प्रेमविह्वल) हो गयीं॥ ८॥

नोट—१ *'सागर सीप कि जाँहिं उलीचे'* इति। यहाँ श्रीभरतजीमें सात उत्तम लक्षण—शील, विशेष नम्रता, बड़ाई, भायप, भक्ति, भरोसा और भलाई आदि गुण—गिनाकर कहती हैं कि शारदा भी कह नहीं सकतीं—इतने अनन्त सद्गुण उनमें हैं, तब मैं क्या कह सकती हूँ, उन्हें समुद्र समझो। बड़े-बड़े सात समुद्र हैं, सात गुण कहकर जनाया कि इन्हें सातों अपार समुद्र समझो। जैसे उनका अन्त नहीं वैसे ही भरतजीके गुण अनन्त हैं, उनकी थाह नहीं। समुद्रमें अगणित और बड़े-बड़े सीप होते हैं, उन सीपोंसे भी कोई चाहे (वा, वह सीप ही चाहे) तो क्या समुद्रका जल उसमें भर-भरकर बाहर फेंककर उसको खाली कर सकते हैं? कदापि नहीं। वैसे ही सरस्वती भरतके गुणोंको कहकर पार नहीं पा सकतीं; तब मैं या और कोई क्या कह सकें, अतः इतना ही कहकर छोड़ देती हूँ। [*'भरत सीलगुन……उलीचे'* में 'सम्बन्धातिशयोक्ति', 'वक्रोक्ति', और 'दृष्टान्त' अलङ्कार हैं। (वीर)]

नोट—२*'जानउँ सदा भरत कुलदीपा……'* इति।—*'जानउँ'* के यहाँ तीन प्रकारके अर्थ हो सकते हैं और तीनों सुसङ्गत हैं। मैं जानती हूँ, मैं जानता हूँ और तुम जान लो। तीसरे अर्थमें शंका नहीं क्योंकि प्राचीन लिपियोंमें अनुस्वार बहुत स्थलोंमें बोला और लिखा जाता है जहाँ आजकल बोली और साहित्यमें अनुस्वार नहीं रहता है। इसके उदाहरण अनेक आये हैं। (ख) पु० रा० कु०—राजा हमसे बार-बार कहते रहे कि हम भरतको कुलदीपक सदा जानते हैं। बार-बार कहनेका आशय यह कि तब हमको ऐसा विश्वास नहीं आता था, अब हमने जाना कि राजा यथार्थ ही कहते थे।

नोट—३—*'कसें कनकु मनि पारिखि पाएँ।……'* इति। (क) भाव कि प्रथम तो राजासे सुना था कि भरत कुलके चिराग हैं, उजागर करनेवाले, कीर्ति बढ़ानेवाले हैं और अब आपत्ति पड़ जानेपर इस बातकी

सत्यता आँखोंसे देख ली कि कुलमर्यादाकी रक्षा इन्होंने की दूसरेसे कदापि न हो सकती। (ख) पु० रा० कु०—सोनेकी परख कसौटीपर कसनेसे होती है; मणिकी परख उसे धोकर पिलानेपर होती है विष उतर जाय तो जानो कि सर्पका मोती है, सच्चा मोती;—(अथवा, पारिखीके पानेपर होती है) और समय पड़ जानेपर पुरुषके स्वभावकी परीक्षा होती है। यथा—'**यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदनतापताडनैः। तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा॥**' (सुभाषित रत्नाकर मिश्र प्रकरण श्लोक २६) अर्थात् सोनेकी परीक्षा चार प्रकारसे होती है—निघर्षण (कसौटीपर घिसनेसे) से, छेदनेसे, तपानेसे और ताड़न (पीटने) से; इसी तरह पुरुषकी परीक्षा त्याग, शील, गुण और कर्मसे होती है। पुनश्च यथा—'*और भूप परखि सुलाखि तौलि ताइ लेत।*' (क० ७। २४) सो समय ऐसा पाकर हमने भरतका स्वभाव परख लिया है। इससे राजाकी बातपर पूर्ण विश्वास हो गया। (ग) '*पुरुष परखिअहिं समय सुभाएँ*' समय पड़नेपर पुरुषकी परीक्षा होती है। भाव कि जब सुसमय और कुसमय दोनोंमें स्वभाव एकरस सुन्दर बना रहे तब जानना चाहिये कि वह पुरुष उत्तम है। भरतजीका स्वभाव ऐसे समयमें भी सावधान बना है, अतः उनके समान उत्तम कौन है। *(कै)* इन्होंने सुभायेका अर्थ स्वभाव किया है। उपमेय उपमान दोनोंका एक ही धर्म 'परीक्षा होना' कथन 'दीपक' अलङ्कार है।

नोट—४—'*अनुचित आजु कहब अस मोरा*'''' इति। शीला—कौसल्याजी बहुत बड़ायी करती हुई कहती हैं कि राजाने बार-बार कहा कि भरत कुलदीपक हैं, सोना कसनेपर, मणि परखे जानेपर जान पड़ता है वैसे ही पुरुष समय पड़नेपर सहजमें ही जान पड़ता है,—यह कहकर वे सकुच गयीं कि आज ऐसा कहना अनुचित है, पर शोक और स्नेहमें सयानपन थोड़ा हो जाता है इससे कह गयीं, नहीं तो यह समय ऐसा है कि गुरु, माता, पिता और रामका दिया हुआ राज्य त्यागकर आज वे मनाने आये हैं, मैं बड़ाई करके उनका राज्य रोकती हूँ अर्थात् कहती हूँ कि वे तुमसे राज्य करनेको कहेंगे पर तुम न लेना; राज्य त्यागहीकी सब बड़ाई करते हैं और हम भी बड़ाई करती हैं कि कुलदीपक हैं—उनके वचनोंसे यह भाव सूचित होता है, अतएव वे सकुचा गयीं।

दीनजी—मेरा ऐसा कहना आज अनुचित और अचतुरता है।

पु० रा० कु०—जिन भरतके गुणोंका वर्णन शारदा करती सकुचे उनके लिये यह कहना कि हमने उनकी परीक्षा ली, यह कहना उचित नहीं; क्योंकि इस समय राजाके शोक और भरतके स्नेहसे सयानपन बहुत कम रह गया है।

रा० प्र०— भाव कि शोक और स्नेह न होते तो यथार्थ बड़ाई कर सकती, कहना आज अनुचित है क्योंकि जैसा है वैसा कहा नहीं जा सकता।

वै०—महाराजका मरण हुआ और रघुनन्दनको वन। फिर भरतजी भी राज्य त्यागकर यहाँ आये। ऐसे दुःखके समय आज मेरा भरतजीकी बड़ाई करना अनुचित है, क्योंकि शोक और दुःखके समय तथा स्नेहमें थोड़ा ही सयानपन अच्छा होता है, बड़ा सयानपन दूषण है।

नोट—५ प्रसङ्गसे बाबा हरिदासजी (शीला) का दिया हुआ भाव सुसंगत जान पड़ता है।

नोट—६ '*सुनि सुरसरि सम पावनि बानी।*''''''' इति। श्रीकौसल्याजीने सुत और सुतवधूको '*देवसरि बारी*' के समान कहा और अब कवि कौसल्याजीकी वाणीको गङ्गासम कहते हैं। '*कौसल्या कह दोष न काहू*' इस वाक्यसे कौसल्याजीने कैकेयी, मन्थरा, देवता, सरस्वती और विधि आदि सभीको निर्दोष और निष्पाप बना दिया जैसे गङ्गा अनेक पापियोंको निष्पाप बना देती है। पुनः, अपने पुत्र श्रीरामजीकी शपथ करके वे सौत-पुत्र भरतकी बड़ाई करती हैं, इसकी परवा नहीं कि लोग इसे कुटिलता न समझ लें। अपने पुत्र-पतोहूकी चिन्ता नहीं करतीं, बारबार भरतका शोच करती हैं। यह सब वाणीकी सुरसरिके समान पावनता है। भरतका शोच है, यह सुनकर भरतके स्नेहसे दोनों रनिवास व्याकुल हो गये। सबको भरतका सोच हो गया। (पु० रा० कु०) यहाँ पूर्णोपमा अलङ्कार है।

दो०—कौसल्या कह धीर धरि सुनहु देबि मिथिलेसि।
को बिबेक निधि बल्लभहि तुम्हहि सकइ उपदेसि॥ २८३॥
रानि राय सन अवसरु पाई। अपनी भाँति कहब समुझाई॥ १॥
रखिअहिं लखनु भरतु गवनहिं बन। जौं येह मत मानइ महीप मन॥ २॥
तौ भल जतनु करब सुबिचारी। मोरें सोचु भरत कर भारी॥ ३॥
गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहें नीक मोहि लागत नाहीं॥ ४॥

अर्थ—श्रीकौसल्याजी धीरज धरकर कहती हैं—हे मिथिलेश्वरी देवी! सुनिये, विवेक-सागर राजा जनककी प्यारी आपको कौन उपदेश दे सकता है?॥ २८३॥ हे रानी! मौका पाकर आप राजासे अपनी ओरसे समझाकर कहियेगा (कि)॥ १॥ लक्ष्मणको (घर) रख लिया जाय और भरत वनको जायँ। जो यह सलाह राजाके मनमें ठीक जँचे॥ २॥ तो भली प्रकार खूब विचार करके पूरा यत्न करें। मुझे भरतका भारी सोच है (कि राजाकी तरह ये भी प्राण न छोड़ दें)॥ ३॥ भरतके मनमें गूढ़ प्रेम है, उनके घर रहनेमें मुझे भला नहीं लगता (वे घर रहें इसमें मुझे भलाई नहीं जान पड़ती)॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'कौसल्या कह धीर धरि'''''* इति। (क) ये कौसल्या हैं अर्थात् पंडिता हैं, इसीसे सबको व्याकुल देख इन्होंने धैर्य धारण किया। (ख) *'देबि मिथिलेसि'*—आप दिव्य ज्ञानवाली हैं। श्रीजनकजी ज्ञानके खजाना हैं, आप उनकी प्रिया हैं, प्रिय पत्नी हैं अतएव आप भी अवश्य पंडिता होंगी, नहीं तो विवेकनिधिको प्रिय न होतीं। स्वयं विवेकी हैं, इससे आपको उपदेश करना ही अनुचित है।

टिप्पणी—२ *'अपनी भाँति'*—आपको सिखाना क्या? आप तो स्वयं बुद्धिमत्ता हैं, यह कहकर अब कहती हैं कि *'अपनी भाँति कहब समुझाई'* अर्थात् जैसी आप बुद्धिमती हैं वैसे ही अपनी बुद्धिमत्तासे समझाइयेगा। पुनः भाव कि हमारे सम्मतमें अपना भी सम्मत कहियेगा, उसका समर्थन भी अपनी ओरसे कीजियेगा। अथवा, अपनी ही ओरसे कहना हमारी तरफसे नहीं। [भाव यह है कि इस भाँति समझाकर कहना मानो आप अपनी ओरसे कह रहीं हैं, आपके कहनेपर महाराज अपने विवेकसे काम लेवेंगे। उचित समझेंगे कहेंगे, नहीं समझेंगे नहीं कहेंगे, और मेरी ओरसे यदि आप कहेंगी तो सम्भव है कि मेरा मान रखनेके लिये महाराज अपने विचारको स्थान न दें। मेरा कहना एक सुझावमात्र है। (वि० त्रि०) श्रीसुनयनाजीने अपनी ओरसे कहा, यह बात उनके *'कही समय सिर भरतगति रानि सुबानि सयानि'* इन वचनोंसे पायी जाती है।]

टिप्पणी—३ *'रखिअहिं लषनु भरतु गवनहिं बन।'''''* इति। (क) लक्ष्मणजीको रोक लेनेको इससे कहा कि लक्ष्मणजीको केवल एक—*'रामवियोग'* का —दुःख होगा और भरतको दो दुःख हैं, एक तो अपयशका, दूसरे वियोगका। इनके दो दुःख मिटेंगे और लक्ष्मणको एक ही दुःख होगा। (ख) ***'जौं येह मत मानइ महीप मन'*** इति। संदिग्ध वचन कहकर जनाया कि मैं हठ नहीं करती, ठीक जँचे तो उसका उपाय किया जाय, नहीं तो नहीं। यह वाक्य दीपदेहलीन्यायसे दोनों तरफ है।

टिप्पणी—४ *'गूढ़ सनेह भरत मन माहीं।'''''।'* भाव कि लक्ष्मणजीका प्रेम प्रकट है कि सबका स्नेह तृणावत् तोड़कर साथ हो लिये, यथा—*'देह गेह सब सन तृन तोरे'*, *'गुरु पितु मातु न जानउँ काहू'*, इत्यादि वचनोंसे प्रत्यक्ष है। और, भरत सब व्यवहार और धर्मोंको लिये हुए रामप्रेम निबाह रहे हैं, जैसा *'घर पुर देस राखि रखवारे'*, *'करइ स्वामि हित सेवक सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई॥'* और *'संपति सब रघुपति कै आही। जौं'''''* इत्यादि वचनोंसे प्रकट है। इन्हीं वचनोंसे उनके स्नेहमें लोगोंको संदेह होता था; वसिष्ठजी, निषादराज, लक्ष्मणजी, पुरवासी, देवता आदि कोई भी उनके गुप्त प्रेमको न समझ सके, इन सबोंको भी संदेह हुआ तब औरोंकी क्या कही जाय?—ऐसा गूढ़ है।

लखि सुभाउ सुनि सरल सुबानी। सब भइँ मगन करुनरस रानी*॥ ५॥
नभ प्रसून झरि धन्य धन्य धुनि। सिथिल सनेह सिद्ध जोगी मुनि॥ ६॥
सबु रनिवासु बिथकि लखि रहेऊ। तब धरि धीर सुमित्राँ कहेऊ॥ ७॥
देबि दंड जुग जामिनि बीती। राममातु सुनि उठी सप्रीती॥ ८॥

दो०—बेगि पाउ धारिअ थलहि कह सनेह सति भायँ।
हमरें तव† अब ईस गति कै मिथिलेस सहायँ॥ २८४॥

शब्दार्थ—'*थल*'=स्थान, डेरा। '*गति*' =प्रयत्नकी सीमा, अन्तिम उपाय, सहारा, अवलम्ब, यथा— '*तुम्हहि छाँड़ि गति दूसरि नाहीं।*'

अर्थ— श्रीकौसल्याजीका स्वभाव देखकर और उनकी सीधी-सादी निष्कपट सुन्दर वाणी सुनकर सब रानियाँ करुणरसमें मग्न (डूब) हो गयीं॥ ५॥ आकाशसे पुष्पोंकी वृष्टिकी झड़ी लग गयी और 'धन्य! धन्य!' की ध्वनि हो रही है। सिद्ध, योगी और मुनि स्नेहसे शिथिल हो गये॥ ६॥ सारा रनिवास देखकर स्तब्ध होकर रह गया। तब श्रीसुमित्राजीने धीरज धरकर कहा॥ ७॥ हे देवि! दो घड़ी रात बीत गयी। यह सुनकर श्रीरामजीकी माता प्रेमपूर्वक उठीं॥ ८॥ और प्रेमपूर्वक सद्भावसे कहने लगीं—आप शीघ्र डेरेको पधारिये। हमारे तो अब ईश्वर ही सहारा हैं या मिथिलेशजी ही सहायक हैं॥ २८४॥

नोट—१ '*लखि सुभाउ सुनि सरल सुबानी।*…' इति । जैसे पूर्व कहा था '*सुनि सुरसरि सम पावनि बानी। भईं सनेह बिकल सब रानी॥*' (२८३। ८) वैसे ही यहाँ कहा। यहाँ '*सरल सुबानी*' से सुरसरि सम पावनी जनाया। सरल अर्थात् निष्कपट, निश्छल। '*सनेह बिकल*' अर्थात् सब 'करुणरसमें मग्न' हो गयीं। इस तरह पूरा प्रसंग करुणरसपूर्ण जनाया।

टिप्पणी—१ पु० रा० कु०—'*जनु करुना बहु बेष बिसूरति।*' (२८१। ७) उपक्रम है और '*सब भइँ मगन करुनरस रानी*' उपसंहार। सब रानियोंके विकल होनेका कारण यह है कि वाणी करुणारसपूर्ण थी, उसे सुनकर सब करुणारसमें मग्न हो गयीं।—'*मुख सुखाहिं लोचन स्त्रवहिं सोक न हृदय समाइ। मनहुँ करुनरस कटकई उतरी अवध बजाइ॥*' (४६) देखिये। वही दशा यहाँ जानिये। पुनः, बा० ३३७ '*मानहुँ कीन्ह बिदेहपुर करुना बिरह निवास*' देखिये।

टिप्पणी—२ (क) '*नभ प्रसून झरि धन्य धन्य धुनि*…' इति। देवता स्वार्थी हैं ही, यथा—'*आये देव सदा स्वारथी। बचन कहहिं जनु परमारथी॥*' (६। १०९। २) कौसल्याजीके वचनोंमें उन्होंने अपने स्वार्थकी सिद्धि देखी। वे इनके हृदयका पता पा गये कि इनका सम्मत रघुनाथजीके लौटनेका नहीं है, वरन् उनका वन जाना इनको अङ्गीकार है, उसमें ये प्रसन्न हैं—'*भल परिनाम न पोच*'— (पां०)। (ख) '*सिद्ध जोगी मुनि*…' ये लोग अपने-अपने अधिकारमें मग्न हैं। ये स्नेही नहीं होते; परंतु रानीकी स्नेहमय वाणी सुनकर वे भी शिथिल हो गये। [ये माताका सरल प्रेम, उनकी धर्ममें ऐसी पक्की निष्ठा देखकर मग्न हुए कि वे रामवियोग-जनित पीड़ा सहनेको तैयार हैं, पर अपने मुखसे यह नहीं कहतीं कि राम घर रख लिये जायँ। (रा० प्र०) यहाँ 'प्रथम उल्लास अलंकार' है। यह भाव कि 'लक्ष्मणजीके घर रखनेके विचारसे शिथिल हुए यह समझकर कि शूर्पणखाके नाक-कान कौन काटेगा, भरतजीसे तो यह होगा नहीं, तब रावण क्यों सीताहरण करेगा और मेघनादवध कैसे होगा' प्रसङ्गानुकूल नहीं है। यहाँ शिथिलता स्नेहसे है न कि शोकसे। (मा० सं०)]

टिप्पणी—३ '*सबु रनिवासु बिथकि लखि रहेऊ*…' इति।—सब रनवास कौसल्याजीको देखकर विशेष

* 'सानी'— रा० प्र०, पु० रा० कु०, भा० दा०।
† 'तौ'— भा० दा०, गी० प्रे०।

स्तब्ध या शिथिल हो गया, न कोई हिलता-डोलता है, न बोलता है। उस दशामें सुमित्राजीने धीरज धारण किया। ये सुष्ठु मित्रा हैं, सबकी मित्रा हैं, सबको चैतन्य करने एवं सबके धर्मकी रक्षाके लिये ये बोलीं कि दो दण्ड रात जा चुकी, पति-सेवामें संध्यासे ही तत्पर रहना उचित है। पुनः भाव कि बहुत देरसे बैठे-बैठे थक गयी होंगी, तीन दण्ड दिन और दो दण्ड रातके बीते। (रा० प्र०) अथवा, रात अँधेरी है और बहुत बीत गयी (पं०)।

टिप्पणी—४ *'हमरें तव अब ईस गति कै मिथिलेस सहायँ'* इति। अर्थात् इन्हें छोड़ तीसरा उपाय या अवलम्ब नहीं। यहाँ 'विकल्प अलङ्कार' है। यहाँ ईसका अर्थ शिवजी है, जैसा सुनयनाजीके वचनोंसे जान पड़ता है—*'सदा सहाय महेस भवानी।'* रामजीके *'मुनि मिथिलेस राखि सब लीन्हा'* से मिलान कीजिये।

लखि सनेह सुनि बचन बिनीता। जनकप्रिया गह पाय पुनीता॥ १॥
देबि उचित असि बिनय तुम्हारी। दशरथघरिनि राममहतारी॥ २॥
प्रभु अपने नीचहु आदरहीं। अगिनि धूम गिरि सिर तिनु धरहीं॥ ३॥
सेवक राउ करम मन बानी। सदा सहाय महेसु भवानी॥ ४॥
रउरे अंग जोगु जग को है। दीप सहाय कि दिनकर सोहै॥ ५॥

शब्दार्थ—गहना=पकड़ना, लगना, स्पर्श करना। घरिनि=घरवाली, स्त्री। प्रभु=समर्थ, स्वामी, ऐश्वर्यमान, बड़े लोग। अङ्ग=सहायक। यह अर्थ प्रश्न और उत्तर दोनोंसे स्पष्ट है। *'रउरे अंग जोगु को है?'* कहकर *'दीप सहाय कि'* कहकर स्पष्ट कर दिया कि अंग=सहाय।

अर्थ—श्रीकौसल्याजीके प्रेमको देखकर और उनके विनम्र वचनोंको सुनकर श्रीजनकजीकी प्रिय पत्नीने उनके पवित्र चरण पकड़ लिये और कहा॥ १॥ हे देवि! आपकी ऐसी विनय (विशेष नम्रता और विनती) उचित ही है (क्योंकि) आप दशरथजीकी स्त्री और रामजीकी माता हैं॥ २॥ समर्थ (बड़े लोग) अपने नीच जनोंका भी आदर करते हैं। (देखिये) अग्नि धुएँको और पर्वत तृणको सिरपर धारण करते हैं॥ ३॥ हमारे राजा तो मन-कर्म-वचनसे आपके सेवक हैं और सदा सहायक तो महादेव-पार्वतीजी ही हैं॥ ४॥ आपका सहायक होनेके योग्य संसारमें कौन है? क्या दीपक सूर्यका सहायक बनकर शोभा पा सकता है? (वा, दीपककी सहायतासे सूर्यकी शोभा है?)॥ ५॥

नोट—१ ***'जनकप्रिया गह पाय पुनीता'*** इति। भाव कि कौसल्याजीका दर्जा बड़ा है। वे एक तो दामादकी माता हैं, दूसरे चक्रवर्ती महाराजकी पटरानी हैं। ऐसी होकर ऐसी विनती करें, यह उचित नहीं। चरण पकड़कर जनाया कि हम सब तो आपके दासदासी हैं, भला कहीं सहायक हो सकते हैं, आपने हमें बहुत आदर दिया। (पं०) पुनः, यह चरण परमपवित्र हैं, इससे उनका स्पर्श किया।

नोट—२ *'दसरथघरिनि राममहतारी।'* (क) दशरथमहाराजके प्रेमसे हद है, उनकी रानी हैं, तब ऐसा स्नेह क्यों न हो और 'राममहतारी' हैं तब ऐसे विनम्र वचन क्यों न बोलें; वे तो कैकेयीके कुटिल वचनपर भी कैसे सुशील और विनम्र वचन ही बोलते रहे। ***'निधरक बैठि कहइ कटु बानी। सुनत कठिनता अति अकुलानी॥……'*** (४१। १—४) ऐसे वचनोंके उत्तरमें भी वे क्या कहते हैं—***'सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी।……'*** (४१। ७-८) ऐसे ***'मृदु मंजुल जनु बाग बिभूषन'*** वचन बोले। पुनः (ख)—स्त्रीकी श्रेष्ठता तीन प्रकारसे मानी गयी है, वह तीनों आपमें हैं—'स्वयं देवी अर्थात् दिव्य हैं, पति ऐसा श्रेष्ठ, पुत्र भी श्रेष्ठ।***'महिमा अवधि राम'*** की माता हैं, तब आपकी बड़ाई कौन कर सकता है और ***'दशरथ गुनगन बरनि न जाहीं। अधिकु कहा जेहि सम कोउ नाहीं॥'*** (२०९। ८) ऐसे महाराज दशरथजीकी स्त्री हैं तब आपमें ऐसे गुण हों तो योग्य ही है—(पु० रा० कु०)। (ग) भाव कि योग्य महानुभावोंके सम्बन्धी भी योग्य ही होते हैं; फिर माता और पत्नीमें तो योग्यताका विशेषांश आ जाता है। (दीनजी) यहाँ दूसरा सम-अलङ्कार है।

नोट—३—'*प्रभु अपने नीचहु आदरहीं।*' इति। (क) यहाँ श्रीसुनयनाजीका आशय यह है कि आपका हमसे इस प्रकार विनम्र वचन कहना ऐसा ही है जैसे स्वामी सेवकको आदर-मान देनेके लिये उससे विनीत वचन कहे, यथा—'*प्रभु सक तिभुअन मारि जिआई। केवल सक्रहि दीन्हि बड़ाई॥*' (लं० ११३) इसी तरह प्रभुके वचन सुनकर वानरोंने कहा था—'*प्रभु जोइ कहहु तुम्हहि सब सोहा*" *तुम्ह त्रयलोक ईस रघुनाथा॥ सुनि प्रभु बचन लाज हम मरहीं। मसक कहूँ खगपति हित करहीं॥*' (लं० ११७) (ख) बड़े लोग अपने लघु लोगोंका आदर करते हैं, यह उपमेय वाक्य हैं और '*अगिनि धूम गिरि सिर तृन धरहीं*' उपमान वाक्य हैं। आग जलती है तो धुआँ सदा उसके ऊपर ही रहता है, पर्वतके ऊपर भी तिनका (घास आदि) रहता है—अग्नि और पर्वत समर्थ हैं, बड़े हैं, वे तुच्छ धुएँ और तृणको सिरपर धरते हैं, क्यों? इससे कि वे अपने हैं, अपनेसे छोटे हैं। यहाँ अग्नि और पर्वतवत् आप हैं, राजा जनक और मैं लघु धूम और तृणवत् हैं। धुएँ और तृणसे अग्नि और पर्वतको लाभ नहीं, फिर भी ये उनका आदर करते हैं। यहाँ 'दृष्टान्त अलङ्कार' है।

नोट—४—'*सेवक राउ सहाय महेसु भवानी।*' इति। भाव कि सेवक सेवा करता है, बराबरवाले या बड़े सहायता करते हैं। राजा आपके सहायक नहीं, वे तो मन-कर्म-वचनसे सेवक हैं, यथा—'*संबंध राजन रावरे हम बड़े अब सब बिधि भए। येहि राज साज समेत सेवक जानिबे बिनु गथ लए॥*' (१। ३२६) हाँ, महेश-भवानी अवश्य सदा सहायता करते आये और अब भी वे ही सहाय होंगे। 'महेश' महान् ईश हैं, सबके स्वामी हैं, समर्थ हैं। उनका सहायक होना ठीक ही है।

पु० रा० कु०—'*रउरे अंग जोग जग को है।*' इति। (क) यह '*कै मिथिलेस सहाय*' का उत्तर है। अर्थ तो स्पष्ट है पर इसमें हास्यरसका अर्थ भी झलक रहा है कि 'आपके अङ्कके योग्य कौन पुरुष है? क्या समधी जनक आपके योग्य हैं?' यद्यपि यहाँ यह आशय नहीं है। यह तो बड़े करुणाका समय है हास्यका नहीं। अवधकी महारानी अपनी असहायावस्था प्रकट कर रही हैं। इसपर श्रीसुनयनाजी विनय-प्रदर्शन करते हुए कहती हैं कि आपकी सहायताकी योग्यता संसारमें किसे है, महाराज तो आज्ञाकारी सेवक हैं। '*जग को है*' अर्थात् राजाकी क्या चली, देव, दनुज, मुनि, मनुष्य संसारभरमें कोई नहीं। यह कुल तो 'जगत्‌की रक्षा करता है। यथा— '*नृप सब रहहिं कृपा अभिलाषें। लोकप करहिं प्रीति रुख राखें॥*' (२। २। ३) '*सुरपति बसइ बाँह बल जाकें। नरपति सकल रहहिं रुख ताकें॥*' (२५। २) (यह तो दशरथजीके समयकी बात है। देवासुर-संग्राममें इन्होंने देवताओंकी सहायता की थी— यह कथा वरदान-प्रसंगमें लिखी गयी है। इसी तरह पूर्व भी राजाओंने रक्षा की है। इसकी सहायता कौन कर सकता है। (ख) दीपक घरभरको ही प्रकाशित कर सकता है और सूर्य ब्रह्माण्डभरका प्रकाशक है। दीपक अपने प्रकाशसे सूर्यकी सहायता करना चाहे तो क्या वह शोभा पावे? कदापि नहीं।) राजा दीपकके समान हैं और आप सूर्य। ('सहाय' का नाम लें तो वे वैसे ही छविहीन देख पड़ेंगे जैसे दिनमें चिराग।)

रामु जाइ बनु करि सुरकाजू। अचल अवधपुर करिहहिं राजू॥ ६॥
अमर नाग नर राम बाहु बल। सुख बसिहहिं अपने अपने थल॥ ७॥
एह सब जागबलिक कहि राखा। देवि न होइ मुधा मुनिभाषा॥ ८॥
दो०—अस कहि पग परि पेम अति सिय हित बिनय सुनाइ।
सिय समेत सियमातु तब चली सुआयसु पाइ॥ २८५॥

शब्दार्थ—'मुधा' (सं०)= व्यर्थ, झूठ, निष्फल, यथा—'*तेहि कहँ पिय पुनि पुनि नर कहहू। मुधा मान ममता मद बहहू॥*'—(लं०); '*मुधा भेद जद्यपि कृत माया*'—(उ०)। भाषा=वाणी; कहा हुआ।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी वनमें जाकर देवकार्य करके अवधपुरीमें अटल (क्योंकि कोई विघ्नकर्त्ता रह ही न जायगा) राज्य करेंगे॥ ६॥ देवता, नागदेव (पातालवासी), मनुष्य (पृथ्वीपर रहनेवाले) सब श्रीरामचन्द्रजीकी

भुजाओंके सहारे अपने-अपने स्थानों (लोकों एवं घरों) में सुखपूर्वक बसेंगे'॥७॥—यह सब याज्ञवल्क्यमुनिने पहिलेसे ही कह रखा है। हे देवि! मुनिकी वाणी व्यर्थ नहीं हो सकती॥८॥ ऐसा कहकर बड़े प्रेमसे पैरों पड़कर और श्रीसीताजीके लिये बड़े प्रेमसे विनती करके (कि इसको साथ कर दीजिये, सब देख लें) तब सुन्दर आज्ञा पाकर सीताजीकी माता सीतासहित अपने डेरेको चलीं॥२८५॥

टिप्पणी—पु० रा० कु०—१ *'रामु जाइ बनु भाषा'*, ये वचन दशरथनिवासके परितोषके निमित्त कहती हैं। *'लखन रामसिय जाहु बन भल परिनामु न पोच भरत कर सोच'* इत्यादि वचनोंके सम्बन्धमें अब कह रही हैं। *'हमरे तौ अब ईस गति कै मिथिलेस सहाय।'* (२८४) इन अन्तिम वचनोंका उत्तर श्रीसुनयनाजीने प्रथम दिया, क्योंकि ऐसा न करतीं तो समझा जाता कि वे अपनेको बड़ा मानती हैं, इसीसे पहले उनका खण्डन करके तब और बातोंके विषयमें कहती हैं।

टिप्पणी—२ (क)*'अमर नाग नर सुख बसिहहिं अपने अपने थल'* इति। भाव कि ये कोई अपने घर रहने नहीं पाते। यथा—*'रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा॥ किन्नर सिद्ध मनुज सुर नागा। हठि सबही के पंथहि लागा॥ आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आइ नित चरन बिनीता।'* (बा० १८३),*'नाग नर किन्नर बिरंचि हरि हर हेरि पुलक सरीर हिये हेतु हरषतु हैं॥ आयसु भो लोकनि सिधारे लोकपाल सबै तुलसी निहाल कै कै दिए सरषतु हैं।'* (क० ६।५८)*'दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्ह के जस अमर नाग नर सुमुखि सना हैं।'* (गी०।७।१३) अमरनागनरसे तीनों लोकोंके रहनेवाले सूचित किये। (ख)—*'यह सब जागबलिक कहि राखा'* अर्थात् यह भविष्य याज्ञवल्क्यजीने वर्षों हो गये तभी हम लोगोंसे कहा था। ये मुनि जनक महाराजके गुरु हैं, यथा—*'जोगी जागबलिक प्रसाद सिद्धि लही हैं।'* (गीता० १।८५) याज्ञवल्क्यजी रामचरित भली प्रकार जानते थे। राजा जनकके यहाँ रामचरित उन्होंने बहुत बार कहा होगा; इसीसे घरभर इस प्रसङ्गको जानता है। अध्यात्ममें सीताजीके वचन रामजीसे हैं कि मैंने तो यही सुना है कि जब-जब राम वनको गये सीता भी साथ गयीं; फिर आप मुझे ले जानेमें क्यों हिचकिचाते हैं, यथा—**'रामायणानि बहुशः श्रुतानि बहुभिर्द्विजैः॥ सीतां विना वनं रामो गतः किं कुत्रचिद्वद। अतस्त्वया गमिष्यामि सर्वथा त्वत्सहायिनी॥'** (२।४।७७-७८)

नोट—१ याज्ञवल्क्यजी वैशम्पायनके शिष्य थे। गुरुके अप्रसन्न हो जानेपर उनसे पढ़ी हुई सारी विद्याएँ उन्होंने उगल दीं, जिसे गुरुके अन्य शिष्योंने तीतर बनकर चुग लिया। इसीसे उनकी शाखाओंका नाम तैत्तिरीय हुआ। गुरुका आश्रम छोड़ इन्होंने सूर्यको अपनी तपस्यासे प्रसन्नकर उनके प्रसादसे ये शुक्ल यजुर्वेद या वाजसनेयी संहिताके आचार्य हुए। इनका वाजसनेय भी एक नाम है। २—ये ही या दूसरे कोई इसी नामके ऋषि जनक महाराजके गुरु भी थे। इन्हींको गोस्वामीजीने *'जोगी जागबलिक'* गीतावलीमें कहा है। मैत्रेयी और गार्गी इन्हींकी स्त्रियाँ थीं। इनकी स्मृतिका आज भी बड़ा मान है। दायभाग बंगालप्रान्तमें आज भी कानून माना जाता है। ३—याज्ञवल्क्यजीने काकभुशुण्डिजीसे रामचरितमानस प्राप्त किया था, जो उन्होंने भरद्वाजजीसे कहा था। (प्र० सं०) ☞ इनकी विस्तृत कथा इस संस्करणके बालकाण्ड ४५ (४) (८) में दी जा चुकी है।

* राजमहिलासम्मेलन *

मा० हं०—स्त्रीसम्मेलनका नाटकीय नमूना कविने इस वर्णनद्वारा दिखलाया है। परंतु काव्यकी दृष्टिसे उसकी योग्यता बहुत भारी है। इस सम्मेलनका यहाँपर प्रबन्ध न किया होता तो यहाँतक कहनेका अवसर आ जाता कि राजमहिलाओंने चित्रकूटतक जानेका व्यर्थ कष्ट क्यों उठाया? इस वर्णनको पढ़ते ही ध्यानमें आ जावेगा कि लोक-शिक्षा, लोकनिरीक्षण और कविकलाकी दृष्टिसे इस बैठकका बड़ा भारी महत्त्व है। हम समझते हैं कि उसके महत्त्वके उद्घाटनकी आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि उसे पढ़ते समय ही प्रत्येक पात्रके भाव और स्वभाव एकदम नजरमें आ जाते हैं। वही उस वर्णनकी एक बड़ी विलक्षणता है।

नोट—२ यह अवध-मिथिला-राज-महिलाओंका सम्मेलन-प्रसङ्ग यहाँ समाप्त हुआ। *'आयेउ जनकराज रनिवासू।'* (२८१। ३) उपक्रम है और *'सियसमेत सियमातु तब चली सुआयसु पाइ॥'* (२८५) उपसंहार है। यह सम्मेलन पाँच दोहोंमें है।

चित्रकूट-अवध-मिथिला-महिला-सम्मेलन-प्रसङ्ग समाप्त हुआ।

'श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी और नारिजाति'

पं० रामचन्द्र दूबे (ना० प्र० की निबन्धावलीसे)—'श्रीयुत मिश्रबन्धुओंने अपने 'हिन्दी नवरत्न' में गोसाईंजी-की बड़ी लथाड़ की है। १—गोसाईंजीकी माताका उनकी शैशवावस्थामें ही देहान्त हो गया था। २—स्त्रीका प्रसङ्ग भी चिरकाल नहीं रहा। ३—गृहत्यागी होनेसे उनको उच्चश्रेणीकी महिलाओंके प्रसङ्गका अवसर न मिलनेसे वह स्त्रीचरित्रकी जाँच ठीक-ठीक न कर सके। और, ४—नीच श्रेणीकी स्त्रियोंको देखकर ही स्त्रीनिन्दापर कमर कस ली।—क्या इतना कह देना सच्चे महाकविकी जाँच हो गयी?

जो बातें कविपर बीती हों, क्या कवि उन्हींका अनुभव कर सकता है? कवि सृष्टिके सम्पूर्ण व्यापारोंका अनुभव करता है। वह लोकदर्शी होता है।— एक साधारण कहावत है *'जहाँ न जाय रवि, वहाँ जाय कवि।'* गुसाईंजीकी दृष्टि कैसी पैनी थी, इसके विषयमें स्वयं मिश्रबन्धु एक स्थानपर लिखते हैं—'जिस प्रकार गोस्वामीजीने कलिधर्मके विषयमें भविष्यवाणी-सी की है, उसी प्रकार भारतेन्दुजीने किया है। इन वर्णनोंसे इन कविरत्नोंकी पैनी दृष्टि तथा संसार-चक्रकी गति परखनेकी शक्ति प्रकट होती है।'

केवल अनुमानकी भीतपर यह इमारत खड़ी की जाती है, पर वह दृढ़ नहीं है कि 'शैशवावस्थामें ही मातृवियोग हो गया था।' यदि ऐसा ही होता तो गुसाईंजी यह कैसे लिखते कि—*'तुलसिदास हित हिय हुलसी सी?'* क्या शिशुको मातृप्रेमकी इतनी स्मृति रह सकती है?

२ गृहत्यागी होनेसे उच्चश्रेणीकी महिलाओंका प्रसङ्ग नहीं मिला। आज धार्मिक भाव (गोसाईंजीके) उस समयकी अपेक्षा बहुत कम है। फिर भी साधुमहात्माओंके लिये आज भी राजप्रासादोंके अन्तःपुरके द्वार खुले रहते हैं। साधुवेषधारी महात्माओंमें कपटी और दुष्ट प्रकृतिके व्यक्ति आजकी अपेक्षा उस समय कम थे। उस समयके आस-पास ही अनेक सच्चे सन्तोंका प्रादुर्भाव हुआ था, जिन्होंने किसी-न-किसी रूपमें भक्तिमार्गको ही पुष्ट कर उसकी पतितपावनी धारासे देशको एक छोरसे दूसरे छोरतक प्लावित कर दिया था। श्रीमीराबाईजी और श्रीसूरदासजीने उसी समयको पवित्र किया था। अतएव यह समझमें नहीं आता कि हमारी उच्च कुलकी ललनाएँ गुसाईंजी-सरीखे महात्माके दर्शनसे वञ्चित रहीं—। अगर यही माना जाय कि कवि अपने व्यक्तिगत अनुभवसे ही चित्रणमें सफल हो सकता है; तो यह भी मानना पड़ेगा कि जिस कविने सीता, कौसल्या, सुमित्रा आदिका मनोहर एवं आदर्श चरित्र-चित्रण किया है, उसका ऐसी स्त्रियोंका अनुभव बहुत बढ़ा-चढ़ा था। उसको यदि केवल नीचकुलकी स्त्रियोंसे ही मिलने-जुलनेका अवसर मिला होता तो वह केवल मन्थरा और शूर्पणखाके ही मलिन चित्र खींच सकता था; न कि सीता, कौसल्या आदि श्रेष्ठ रमणीरत्नोंके। पर रामचरितमानसमें हमको दोनों कोटिकी स्त्रियोंके दर्शन होते हैं। अतएव यह मानना पड़ता है कि महाकविने दोनों प्रकारकी स्त्रियोंको देखा था; और स्त्रीजातिकी उन्होंने जो निन्दा की है, वह राग-द्वेषसे नहीं, किसी अनभिज्ञतासे नहीं, किसी अनुभवकी कमीसे नहीं, वरन् किसी विशेष इष्ट-सिद्धिके लिये। जबतक हम ऐसा न मानें, हम इस निन्दाका उन पवित्र निर्मल चरित्रोंके साथ समाधान नहीं कर सकते। पाश्चात्त्य कविपुंगवोंने (शैक्सपियर, गोल्डस्मिथ, सोफोक्लीज इत्यादि) स्त्री-जातिकी जैसी घोर निन्दा की है उसको देखकर आश्चर्यके साथ कहा जायगा कि वे नारीविद्रोही क्यों नहीं कहे गये ओर बेचारे गोसाईंजीपर ही वह दोषारोप किया जाय?

अब हम यह दिखलाना चाहते हैं कि कवि-दृष्टिसे गुसाईंजीने नारीचरित्रका चित्रण किस खूबीसे किया है। उनकी दृष्टिमें स्त्रीका कितना उच्च स्थान है।

कविने रामायणकी रचना करके ही यह दरसा दिया है कि उसकी दृष्टिमें स्त्रीका पद कितना ऊँचा है। एक स्त्रीके अपमानके बदलेमें हजारों योद्धा अपनी जीवनलीला समाप्त करते हैं। उसीके प्रतिकारमें सीताहरण होता है। फिर उनकी रक्षा, उनकी मान-मार्यादाको पददलित करनेके प्रयत्नको विफल करनेके लिये लंकामें रक्तकी नदी बहती है।

सुनसान स्थान है। एक अकेली अबला पर्णकुटीमें बैठी है। रावण-सा प्रतापी सम्राट् उसके रूपलावण्यकी कथापर मुग्ध हो उसको उड़ाने तथा अपनी भगिनीके अपमानका बदला लेने आता है। पर उसे इतना साहस नहीं होता कि सम्मुख जाकर प्रेमभिक्षाकी याचना करे। अतः यतिका वेष करके जाता है।—*'करि अनेक बिधि छल चतुराई। माँगेउ भीख दसानन जाई॥'* (क्षेपक) पर जब इस प्रकार सफलमनोरथ न हुआ तब अपना असली रूप दिखलाता है। पर उत्तर क्या मिलता है?—*'जिमि हरिबधुहिं छुद्र सस चाहा। भयेसि काल बस ।'* इसका प्रभाव कामान्धपर क्या पड़ता है—*'सुनत बचन दससीस लजाना। मन महुँ चरन बंदि सुख माना॥'* पर प्रतिकार-मिश्रित कामकी ज्वाला हृदयमें दहक रही है, जिसमें पड़कर यह विचार भस्म हो जाता है और वह श्रीसीताजीको बलात् ले जाता है।'''उनके क्रन्दनका शब्द जटायुके कर्णकुहरमें पड़ता है।'''''''

पं० रामचन्द्र शुक्ल—गोस्वामीजी कट्टर मर्यादावादी थे, कार्यक्षेत्रोंके प्राचीन विभागके पूरे समर्थक थे। स्त्रियोंकी घरसे बाहर निकलनेवाली स्वतन्त्रताको वे बुरी समझते थे। पर यह भी समझ रखना चाहिये कि **'जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहिं नारी।'** कहते समय उनका ध्यान ऐसी ही स्त्रियोंपर था जैसी कि साधारणतः पायी जाती हैं, गार्गी और मैत्रेयीकी ओर नहीं। हाँ, भक्तिका अधिकार जैसा सबको है वैसा ही इनको। भक्तिमार्गमें उत्साहित करनेमें वे किसी बातकी रियायत नहीं रखते थे। स्त्रियोंके लिये साधारण उपदेश उनका वही समझना चाहिये जो ऋषिवधूने ***'सरल मृदु बानीसे'*** सीताजीको दिया है।'''उनपर स्त्रीनिन्दाका पाप लगाया जाता है। उन्होंने सब रूपोंमें स्त्रियोंकी निन्दा नहीं की है। केवल प्रमदा या कामिनीके रूपमें दाम्पत्यरतिके आलम्बनके रूपमें की है—माता, पुत्री, भगिनी आदिके रूपमें नहीं। इससे सिद्ध है कि स्त्रीजातिके प्रति उन्हें कोई द्वेष न था। अतः उक्त रूपमें स्त्रियोंकी जो निन्दा उन्होंने की है, वह अधिकतर वैराग्यको दृढ़ करनेके लिये; और कुछ लोककी आसक्तिको कम करनेके लिये। उन्होंने प्रत्येक श्रेणीके मनुष्योंके लिये कुछ-न-कुछ कहा है। उनकी कुछ बातें तो विरक्त साधुओंके लिये हैं, कुछ गृहस्थों के लिये, कुछ विद्वानों और पण्डितोंके लिये।'''''सिद्धान्त और अर्थवादमें भेद न समझनेके कारण यह पाप गोस्वामीजीपर लगाया जाता है। ***'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी'***॥—इससे कुछ लोग बहुत चिढ़ते हैं। चिढ़नेका कारण है 'ताड़न' शब्द जो ढोल शब्दके योगमें आलंकारिक चमत्कार उत्पन्न करनेके लिये लाया गया है। 'स्त्रीका समावेश भी सुरुचि विरुद्ध लगता है पर वैरागी समझकर उनकी बातको बुरा न मानना चाहिये।'

☞ इस विषयमें पूर्व और आगे अरण्य तथा सुन्दरकाण्डोंमें भी लेख आये हैं। पाठक वहाँ देख लें।

श्रीभरतविषयक श्रीजनक-सुनयना-संवाद

प्रिय परिजनहि मिली बैदेही। जो जेहि जोगु भाँति तेहि तेही॥१॥
तापस बेष जानकी देखी। भा सबु बिकल बिषाद बिसेषी॥२॥
जनक रामगुर आयसु पाई। चले थलहि सिय देखी आई॥३॥
लीन्हि लाइ उर जनक जानकी। पाहुनि पावन पेम प्रान की॥४॥

अर्थ—वैदेही श्रीसीताजी अपने प्रिय कुटुम्बियोंसे जो जिस योग्य था उसी प्रकार उस-उससे मिलीं॥१॥ श्रीजानकीजीका तपस्वी वेश देखकर दुःखसे सब बहुत व्याकुल हो गये॥२॥ श्रीरामजीके गुरु वसिष्ठजीकी आज्ञा पाकर श्रीजनक महाराज डेरेको चले। आकर उन्होंने श्रीसीताजीको देखा॥३॥ श्रीजनकजीने अपने पवित्र प्रेम और प्राणकी पवित्र पाहुनी जानकीजीको हृदयसे लगा लिया॥४॥

नोट—१ *'जो जेहि जोगु भाँति तेहि तेही'* अर्थात् किसीसे गले लगकर मिलीं, बड़ोंके चरण स्पर्श किये,

छोटोंके सिरपर हाथ रखा, उनको प्यार किया, किसीसे मधुर वाणीसे कुशल-प्रश्न ही किया, इत्यादि। *'वैदेही'* पदसे *'विदेहकुलसमुद्भवः'* विदेहराजकी कन्या और उनकी इस समयकी दशा भी जनायी। प्रेममें 'विदेह' हो रही हैं। 'बिसेषी' का भाव कि दुःख तो पूर्व ही वनवास सुनकर हुआ था, अब आँखोंसे वह वेष देखा अतः विशेष दुःख हो गया। यथा—*'मुनि गुरु परिजन सचिव महीपति। भे सब सोच सनेह बिकल अति॥'* (२७२। २)।

श्रीप्रज्ञानानन्दजीका मत है कि यहाँ बैदेही शब्द देकर जनाया कि प्रिय परिजनोंसे मिलते समय श्रीजानकीजी प्रेम-विवश नहीं हुईं, यह विदेहराजकी कन्याके योग्य ही था। आगे जब माता-पिताके स्नेहवश होकर अपनेको *'न सकी सँभारि'* तब बैदेही शब्द न देकर 'सिय' शब्द दिया है, जो माता-पिताके दुलारका सूचक है।

'लीन्हि लाइ उर''''पेम प्रान की' इति

पु० रा० कु०—पाहुनी हैं, पवित्र प्रेमद्वारा पूज्य हैं और प्राणोंद्वारा अतिथि हैं।

रा० प्र०—अर्थात् जिसके कारण प्राणोंमें प्रेम है।

वै०—ऐसा प्रेम उमगा कि रहा न गया, अतएव जानकीजीको हृदयसे लगा लिया। जानकीजी पावन प्रेमसे ही प्राणोंकी पाहुनी हैं। अर्थात् पूर्वजन्ममें प्राण वारण करके शुद्ध प्रेमसे बहुत काल आराधन करनेपर प्राप्त हुई थीं, इसीसे *'पावन प्रेम प्राणकी पाहुनी'* कहा।

पाँ०—केवल प्रेमके (प्रेमरूपी) प्राणकी पाहुनी।

गौड़जी— 'रामगुणग्राम' को *'अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के'* कहा। प्रियतम अतिथिको *'महेस निज मानस राखा।'* प्रियतमके लिये हृदयमें ही स्थान है। यहाँ तो प्राण और प्रेम दोनोंकी पाहुनी हैं। अपने पाहुनको अपने घरमें ठहराना और सादर सत्कार-पूजा करना कर्त्तव्य है। प्राण और प्रेम दोनोंका घर हृदय है। इसीलिये दोनोंकी पाहुनी की। जानकीजीको हृदयसे लगा लेते हैं। *'पाहुनि'* इसीलिये कि दोनोंने बड़ी तपस्या करके जगज्जननीको इस शरीरमें कुछ ही कालके लिये अपने यहाँ ठहराया। विवाहके पहिलेतक ही तो यह पहुनाई रही। उसी पहुनाईका स्मरण करके*'लीन्हि लाइ उर जनक जानकी।'*

वि० त्रि०—*'लीन्हि लाइ उर''''''प्रान की'* इति। जानकीजीकी विदाईके समय भी कविने *'लीन्हि राय उर लाइ जानकी'* यही पद दिया था, पर उसके साथ कहा था कि *'मिटी महा मरजाद ग्यान की'* परंतु यहाँ कहते हैं *'पाहुनि पावन प्रेम प्रान की।'* बात भी ऐसी ही है। विवाहके बाद लड़कियाँ वस्तुतः पाहुन (अतिथि) हो जाती हैं। उनका पिताके घर अतिथिकी भाँति सत्कार होने लगता है, उनको बिदाई दी जाती है। एवं श्रीजानकीजी भी पहुनी हैं, पर इस समय तपस्विनी हैं, इनका राजकुमारी-सा न तो सत्कार किया जा सकता है, न बिदाई दी जा सकती है। इनका सत्कार तो निर्मल प्रेम और प्राणसे करना होगा, यथा—*'राखेउँ प्रान जानकिहिं लाई।'* प्रेम और प्राणके व्यक्त होनेका स्थान हृदय है, उसीसे लगा लिया अर्थात् हृदयमें स्थान दिया।

उर उमगेउ अंबुधि अनुरागू। भयेउ भूप मनु मनहु पयागू॥ ५॥
सिय सनेह बटु बाढ़त जोहा। ता पर राम पेम सिसु सोहा॥ ६॥
चिरजीवी मुनि ग्यानु बिकल जनु। बूड़त लहेउ बाल अवलंबनु॥ ७॥
मोह मगन मति* नहिं बिदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की॥ ८॥

शब्दार्थ—**ता**=उस। **चिरजीवी**=सब दिन जीनेवाला, दीर्घजीवी, अमर, मार्कण्डेय ऋषि। चिर=दीर्घकालवर्त्ती, बहुतदिनों। सात महात्मा चिरजीवी कहे गये हैं—'**अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः। मार्कण्डेयो जैमिनिश्च सप्तैते चिरजीविनः॥**' इति प्रस्तावचिन्तामणिः। पर यहाँ द्वादशस्कन्ध भागवत और महाभारतके मतसे मार्कण्डेयजी ही अभिप्रेत हैं— (वंदनपाठक)। श्रीभुशुण्डीजी, श्रीलोमशजी तथा कृपाचार्यजी भी चिरजीवी हैं।

अर्थ—उनके हृदयमें प्रेम-समुद्र उमड़ पड़ा। राजाका मन ही मानो प्रयाग हो गया है॥ ५॥ सिय-प्रेमरूपी अक्षयवटको बढ़ते हुए उन्होंने देखा। उस (सियप्रेमवट) पर रामप्रेमरूपी बालक शोभित हो रहा है॥ ६॥

* अति—(ला० सीताराम)।

श्रीजनकजीका ज्ञानरूपी मार्कण्डेय ऋषि, मानो व्याकुल होकर डूबते-डूबते (उस रामप्रेम) बालकका सहारा पा गये॥ ७॥ (कवि कहते हैं कि) विदेह महाराजकी बुद्धि मोहमें नहीं डूबी है (किंतु) यह सियरघुबर-प्रेमका महत्त्व है।

श्रीमार्कण्डेय मुनि

भा० स्क० १२ अ० ८-९-१० में मार्कण्डेयजीकी कथा है। ये मृकण्डु ऋषिके पुत्र हैं। यज्ञोपवीत हो जानेपर गुरुकुलमें रहकर धर्मपूर्वक चारों वेदोंको पढ़ तप-स्वाध्यायमें तत्पर हो इन्होंने आजीवन ब्रह्मचारी बननेका व्रत पालन किया और अमितकालतक भगवदाराधना करके मृत्युको जीत लिया। इन्द्रने डरकर सातवें मन्वन्तरमें तपमें विघ्न डालनेका उपाय किया पर कुछ न कर सका। नरनारायण प्रसन्न हो प्रकट हुए। ऋषिने स्तुति की। उन्होंने वर माँगनेको कहा। तब ऋषिने कहा कि आपके दर्शनसे बढ़कर क्या है, जो मैं माँगूँ तथापि मैं आपकी उस अद्भुत मायाको देखना चाहता हूँ, जिससे मोहित होकर सारे ब्रह्माण्ड सत्य पदार्थमें भी भेदभावना करते हैं। तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण होगी यह कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

एक दिन संध्या-समय पुष्पभद्राके तटपर बैठे ऋषि भगवदुपासना कर रहे थे। उसी समय अकस्मात् बड़े वेगसे आँधी और जलकी घोर वर्षा चारों ओरसे हुई। चारों समुद्रोंने उमड़कर सारे पृथ्वी-मण्डलको डुबा दिया, आकाश, स्वर्ग आदि सब डूब गये—केवल महामुनि ही बचे। ज्ञानी होनेपर भी मुनि व्याकुल और भयभीत हो गये। अंधे-सरीखे इधर-उधर बहते। प्रचण्ड लहरों और वायुके थपेड़ोंसे व्याकुल कभी नीचे डूबते, कभी ऊपर उतराते, अमितकालतक गोते खाते रहे। एक समय उन्होंने एक छोटा टापू देखा, जिसपर एक छोटा-सा फूला-फला नवपल्लवसंयुक्त वटवृक्ष था। इसके ईशान कोणकी शाखापर पत्रपुटपर एक परम मनोहर श्यामवर्ण बालकको देखा कि सुन्दर अङ्गुलियुक्त दोनों हाथोंसे अपने चरणकमलाङ्गुष्ठको मुँहमें डाले पी रहा है। मुनिको विस्मय और परम आनन्द इसे देखकर प्राप्त हुआ और उनकी सारी थकावट और पीड़ा मिट गयी। उनका हृदयकमल और नेत्र प्रफुल्लित हो गये। 'तुम कौन हो' यह पूछनेके विचारसे वे निकट गये। निकट जाते ही वे बालककी श्वासाके साथ उदरमें चले गये तो वहाँ ब्रह्माण्डको पूर्ववत् ज्यों-का-त्यों उदरमें देखा, मोहित होकर कुछ निश्चय न कर सके कि वास्तवमें यह क्या है सब देख चुकनेपर श्वासाद्वारा निकलकर फिर उसी प्रलयसागरमें गिर पड़े और वटवृक्षपर लेटे हुए मुस्कान और तिरछी चितवनसे अपनी ओर देखते हुए बालमुकुन्दको अपने हृदयमें बिठा संतुष्ट हुए और पास जाने लगे त्यों ही भगवान् अन्तर्धान हो गये और सब प्रलयदृश्य क्षणभरमें गायब हो गया।

शौनकजी कहते हैं कि मायाके तत्त्ववेत्ताओंका कथन है कि माया शिशुरूप हरिके उदरमें श्वासाके साथ सात बार भीतर-बाहर होकर केवल मार्कण्डेय ऋषिने ही एक ही समयमें सात कल्प देखे और तत्त्वके न जाननेवाले कहते हैं कि सात कल्पोंमें पूर्वोक्त प्रकारसे हरिकी अनादिकालव्यापिनी माया देखी।

महाभारत वनपर्व अ० १८८—१९० में भी यह कथा है। पर यों है कि 'बड़ी शाखापर एक पर्यङ्कपर एक बालक (बालमुकुन्दभगवान्) लेटे थे। उन्होंने मुझसे कहा कि मेरे मुखमें प्रवेश कर जाओ। मुँह फैलाते ही मैं विवश मुँहमें चला गया। १०० वर्षपर निकला तो बालकको वैसे ही देखा। मैंने प्रणाम करके मायाके जाननेकी इच्छा प्रकट की। भगवान् बालमुकुन्दने कहा कि इस लोकमें जो कुछ पदार्थ तुमने देखे वे सब मेरे ही रूप हैं। पितामह मेरे शरीरके अर्द्धभाग हैं। मैं नारायण हूँ और १०० युगोंतक ब्रह्मारूपसे सब प्राणियोंको मोहित करके शयन करता हूँ। जबतक ब्रह्मा नहीं जागते तबतक मैं पुरातन पुरुष होकर भी, इसी बालरूपसे यहाँ (वटवृक्षपर) रहता हूँ और सब चराचर जगत् मेरे उदरमें तबतक लीन रहता है, जबतक ब्रह्मा योगनिद्रासे नहीं उठते तबतक तुम यहीं सुखपूर्वक रहो। मेरा सत्ययुगमें श्वेतवर्ण, त्रेतामें पीत, द्वापरमें रक्त और कलियुगमें कृष्णवर्ण है।

रूपक

दीनजी—१(क) यहाँ रूपकका बड़ा ही समुचित प्रयोग हुआ है, कोई अन्य रूपक यहाँ जनकजीकी मानसिक परिस्थितिका दिग्दर्शन भी न करा सकता। (ख) तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार प्रलयका दृश्य देखनेकी इच्छा होनेपर मार्कण्डेयजी समुद्रमें तैरते-तैरते अक्षयवटके एक पत्तेपर सोये हुए भगवान्‌के बालकरूपका अवलम्ब पाकर स्थिरचित्त हुए थे, उसी प्रकार जनकजीके हृदयमें जो सीताप्रेमका उद्वेग हुआ तो वे उसमें

डूबने-उतराने लगे। उनका ज्ञान मोहमें परिणत होनेको था कि रामके ऐश्वर्यरूपका ध्यान आया और तब सीता और रामको अनादिशक्ति और ईश्वर समझकर (बेटी-दामादका भाव छूट गया) तब उन्हें सान्त्वना मिली।

दीनजी—२—चिरजीवी मार्कण्डेय ऋषिने भगवान्से प्रार्थना की थी कि मुझे अपनी माया दिखाइये। अतएव उन्होंने बिना समय ही प्रलय कर दिखाया। उसमें उन्होंने देखा कि प्रलयका समुद्र उमड़ता चला आता है, सारी पृथ्वी जलमय हो गयी। मुनि बहुत काल समुद्रमें भटकते रहे, विश्रामके लिये स्थान न मिला। जब डूबने लगे तब एक विशाल वटवृक्ष उन्हें जलमें देख पड़ा, जिसकी एक बड़ी शाखापर एक परम सुन्दर शिशु पर्यङ्कपर लेटा हुआ था। वे उसपर चढ़ गये। प्रयाग डूब जाता है, पर क्षेत्र बना रहता है और वट बढ़ता है। वैसे ही यहाँ राजाका मन अनुराग-समुद्रजलसे छा गया पर प्रेममें डूबनेपर भी अचल बना है। उस क्षेत्रमें जानकीका प्रेम अक्षयवट बढ़ता जाता है—जैसे मार्कण्डेय बहते बच गये वैसे ही इनका ज्ञान भी बच गया। उसीका साङ्गोपाङ्ग रूपक यहाँ लेकर जनकजीके हृदयमें सीताप्रति प्रेमकी उमग और उनके ज्ञानकी विह्वलताकी उत्प्रेक्षा की गयी है।

श्रीपंजाबीजी—जब राजाने पुत्रीभावसे श्रीजानकीजीको हृदयसे लगाया तब राजाके हृदयमें अनुराग (अर्थात् मोह) सिन्धुवत् उमड़ा। तब राजाने ज्ञानरूपी चिरजीवी मुनिको व्याकुल देखा। इसपर उत्प्रेक्षा करते हैं, कारण कि श्रीजनकमहाराजके ज्ञानको वास्तवमें व्याकुल कहते नहीं बनता। उस प्रेमको देखकर राजा जनकने विचार किया कि मुझे कुटुम्बका मोह क्यों हुआ तब राजाका मन मानो प्रयाग हुआ। अर्थात् अपनी पवित्रतामें दृढ़ हुआ। तब उसमें सिय-सनेह-वटको बढ़ता देखा और उसपर रामप्रेम बालकको देखा। भाव यह कि मैंने स्वभावसे स्नेह नहीं किया। श्रीसीताजीमें श्रीरामजीका प्रेम अधिक जानकर मेरी प्रीति बढ़ी है। तब राजाको पूर्ण सन्तोष हुआ कि सन्त-भगवन्त एक रूप हैं, इनमें प्रेम करना ज्ञानका बाधक नहीं प्रत्युत वर्धक है। यही आगे कहते हैं।

रा० प०—मन प्रयाग है। कर्म, उपासना, ज्ञान उसमें त्रिवेणी है।

रा० प० प०—भाव कि मिथिलेशजीके मनकी वृत्ति प्रेमके कारण त्रिगुणात्मिका हो गयी।

रा० प्र०—उरमें अनुरागरूपी समुद्र उमगा। भाव कि श्रीजानकीजीका तपस्विनीरूप देखनेसे महाराजका स्वर्ग-गमन और श्रीकौसल्याजी आदिका दुःख इत्यादि सब स्मरण हो आया। उनका मन मानो प्रयाग हो गया। श्रीजानकीजीका स्नेहरूपी वट बढ़ते देखा। भाव कि अनुराग-समुद्रमें श्रीजानकीजीका स्नेह डूबा नहीं; जलके ऊपर ही बना रहा। उसपर श्रीरामप्रेमरूपी बालक शोभित है। अर्थात् सियसनेहसे कुछ अधिक श्रीरामप्रेम था। अथवा, श्रीजानकीजीके सम्बन्धके आश्रयसे श्रीरघुनाथमें प्रेम है, इससे स्नेहवटको ऊपर कहा।

'चिरजीवी अवलंबनु'—भाव कि ज्ञानके ठहरनेका स्थान श्रीराघव हैं, वहाँ जाकर और श्रीजानकीजीरूपी आश्रयको पाकर ठहर गया। अर्थात् मोह-समुद्रमें डूबनेसे बच गया।

टिप्पणी—पु० रा० कु०—१ सियसनेह (=सीताजीमें अपना प्रेम) वटको अपने मनमें बढ़ते देखा, इसीसे भूपके मनको प्रयाग कहा। जैसे यह प्रलयप्रसंग मार्कण्डेय मुनिका प्रयागमें ही हुआ, वैसे ही सीताजीके प्रति इनके अनुरागकी बाढ़ इनके मनमें ही हुई। अक्षयवट प्रलयमें भी नष्ट नहीं होता। ज्यों-ज्यों जल बढ़ता है त्यों-त्यों यह वट बढ़ता जाता है। सदा जलके ऊपर ही रहता है। श्रीसीताजीके प्रति प्रेम वट है, रामप्रेम बालमुकुन्दभगवान् और जनकका ज्ञान मार्कण्डेय मुनि हैं। ज्ञानको मार्कण्डेय मुनि कहा क्योंकि जैसे उनका नाश नहीं वैसे ही इनके ज्ञानका नाश नहीं।

टिप्पणी—२—(क) वहाँ प्रयागमें सब चरित्र हुआ, यहाँ भूपके मनमें। अतः मनकी प्रयागसे उत्प्रेक्षा की। (ख)—सीताजीके प्रति प्रेम बढ़ा और उनके साथ राममें भी प्रेम हो आया, यही अक्षयवटपर शिशुका सोहना है। [राजाका जो श्रीरामविषयक प्रेम है वही उनके बढ़ते हुए सियस्नेहरूपी वटपर बालरूप होकर शोभित हुआ। (नं० प०)] (ग)—प्रेममें ज्ञानकी मर्यादा नहीं रह जाती, यही ज्ञानका डूबना है। (घ)—रामप्रेममें ज्ञानीकी बड़ाई होती है, यही अवलम्ब पाना है अर्थात् यदि राममें प्रेम न हुआ तो ज्ञान डूबा। प्रमाण, यथा—*'जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ न राम प्रेम परधानू॥'* [जनकजीके ज्ञानने श्रीरामप्रेमका अवलम्ब

लिया। (नं० प०)] और यही बात आगे कहते हैं *'मोह मगन नहिं मति बिदेह की—।'* यह सीतारामके स्नेहकी महिमा है कि जो उसने ज्ञानको डुबा दिया। अर्थात् भूपके हृदयमें ज्ञानसे प्रबल रामका स्नेह है।

श्रीबैजनाथजी—यहाँ शंका होती है कि 'जब सियस्नेह-वटपर चढ़कर ज्ञान डूबते हुए बचा तब पूर्व अनुराग किसका है जो समुद्रवत् उमगा था जिसमें ज्ञान डूबने लगा था?' समाधान यह है कि भगवत्-प्रीतिमें मन और नेत्र रँगे रहनेको अनुराग कहते हैं। वही प्रेम स्त्री-पुत्र आदि लोक-सम्बन्धियोंमें होनेसे मोह कहलाता है। पहले देखते ही जो अनुराग हृदयमें उमड़ा वह केवल पुत्रीभावसे था, इससे उसकी मोह ही संज्ञा हुई, पर यद्यपि वे पुत्री हैं तथापि हैं तो ईश्वरी, इससे यह मोहसंज्ञक नहीं है, यही विचारकर कविने उसका जनकके हृदयमें उमगना कहा— पुत्रीप्रेममें ज्ञान डूबने लगा उसी समय मनमें ईश्वरभाव आ गया। यही मनरूपी प्रयागमें ज्ञान-चिरजीवी मुनिका पहुँचकर सियसनेह-वटका देखना है। जब ईश्वरभावका प्रेम हो गया तब ज्ञानरूपी मुनि अभय हुए, यही वटपर जाना है। अब जो किंचित् पुत्रीभावका मोह जल है वह नीचे ही रह गया। पर फिर भी भय था कि कहीं वृक्ष डूब न जाय तब वटपर देखा कि एक शिशु पड़ा है, उसे पाकर मुनिको विश्वास हुआ कि हम अब न डूबेंगे। वैसे ही ज्ञानरूपी मुनि रामप्रेमका सहारा पाकर निर्भय हो गये, राममें परब्रह्म-भाव आते ही इनका मोह दूर हो गया।

वि० त्रि०—प्रलयकालमें सम्पूर्ण विश्व जलमय हो जाता है। केवल अक्षयवट बचा रहता है। वह प्रयलके जलके साथ-ही-साथ बढ़ता जाता है और प्रयागकी स्थितिका पता देता है, उसीके एक पत्रपर बालमुकुन्द विराजमान रहते हैं। उसी प्रलयके जलमें मार्कण्डेय मुनि विकल थे, बालमुकुन्दके चरणोंका आश्रय पाकर ही उन्होंने विश्राम पाया। इसी भाँति जनकजीके हृदयमें बेटीके प्रेमका मानो समुद्र उमड़ पड़ा, उसीमें महाराजकी बुद्धि मग्न हो गयी। परंतु सीताजीमें बेटीके अतिरिक्त उपास्य देवतावाला प्रेम भी था (सीता-मन्त्रके जनकजी ही ऋषि हैं) वह प्रेम नहीं डूबा, वहीं जनकजीके मनकी स्थितिका पता देता था। जनकजीका ज्ञान ही मानो मार्कण्डेय मुनि हो गया। वह नहीं डूबा, ऊपर-ऊपर तैरता था, पर तरङ्गोंके थपेड़े तथा श्रमसे विकल-सा हो गया था, पर सीताजीके स्नेहके आधारपर जो रामजीका प्रेम था, उसीके आश्रयसे जनकजीके ज्ञानकी रक्षा हुई अर्थात् जनकजीका ज्ञान सोपास्ति था, अत: बेटीके प्रेमके समुद्रके उमड़नेपर भी नहीं डूबा, यदि निरुपास्ति ज्ञान होता तो निश्चय डूब जाता, यथा—*'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भयहरनि भगति न आदरी। ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥'*

गौड़जी—जनकजी-जैसे परम ज्ञानी भी कुछ क्षणोंके लिये प्रेम-विह्वल हो गये। उसीका इस अद्भुत रूपकमें वर्णन है। हृदयमें प्रेम और प्राणकी पाहुनी किशोरीजीके आनेसे शारीरिक सम्बन्धका, पिता-पुत्रीका अनुराग उमड़ पड़ा। यह तो नहीं होना चाहिये था, क्योंकि राजा जनक तो आत्मदर्शी हैं, सांसारिक सम्बन्धके मिथ्यात्वको कभी भूल नहीं सकते। परंतु सीताजीका स्नेह आदिशक्तिकी वात्सल्यरसवाली भक्ति है, वही भक्ति है जो कौसल्याजीकी रामजीके प्रति है। यही इस सांसारिक अनुरागरूपी उमड़े हुए समुद्रमें 'अक्षय' वट है। यह समुद्र तो मायाका खेल है। परंतु उसमें सियस्नेह वटवृक्ष 'अक्षय' वट है, मायारचित नहीं है। इस ऐहिक सम्बन्धवाले अनुरागके बीच वह बढ़ते हुए सिय-सनेहको देखते हैं। परंतु सिय-सनेहकी विशालताके भीतर किसी सूक्ष्म स्थलमें, वटपत्रपर 'सोता हुआ', रामप्रेमरूपी शिशु भी शोभा दे रहा है। सीताजीकी भक्ति अपने रत्नकोशमें छिपाये हुए 'रामभक्ति' रखती है। इस सांसारिक अनुरागकी बाढ़को देख पहले तो जाग्रत् ज्ञान विकल हो गया। जब पहले-पहल रामजीके दर्शन हुए तब भी *'बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा॥'* देखनेकी दशामें अनुरागका भाव इन्द्रियसम्बन्धसे है। और दशामें जनकजीको इन्द्रियोंके सम्बन्धसे अनुराग वा राग होता ही नहीं। 'यहाँ क्यों हुआ? ब्रह्मसुखका त्याग बरबस क्यों हुआ?' धीरज धरकर जनकजीका जाग्रत् ज्ञान कौशिकसे समाधान चाहता है। यहाँ तो समाधान करनेवाला कोई नहीं है। इस अनुरागकी बाढ़में ज्ञान डूबना चाहता है। उसे भ्रम होता है कि हम इस सांसारिक अनुराग-समुद्रमें कहाँ फँस गये। इतनेमें एकाएकी सीताजीकी अक्षय भक्ति बढ़ती हुई देख पड़ती

है तो भी समाधान नहीं होता। फिर जब इसी भक्तिकी बाढ़में छिपा रामप्रेम, ब्रह्मसे एकत्व, देख पड़ता है, तब ज्ञानको अवलम्बन मिलता है। वह समझ जाता है कि दैहिक अनुरागका अम्बुधि यद्यपि मायाका विस्तार है तथापि इसमें सीतारामकी भक्तिकी ही प्रधानता है। इससे ज्ञानमुनिका समाधान हो जाता है। *'सोह न रामप्रेम बिनु ग्यानू'* इस बातका निश्चय विवेक निधि राजा जनकके चरितसे हो जाता है। गीतामें ज्ञानकी परिभाषामें **'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'** आवश्यक है। भक्ति बिना ज्ञान अपूर्ण रहता है। सच्चरित्र भी ज्ञानका आवश्यक अङ्ग है। राजा जनक पूरे ज्ञानी इसीलिये हैं कि उनमें अनन्य-योगसे भगवान्की अव्यभिचारिणी भक्ति है। संसारसे वह *'पद्मपत्र जिमि जल'* का सम्बन्ध रखते हैं। तो क्या इस घड़ी 'विदेहकी मति मोहमें' डूब गयी? नहीं, कदापि नहीं, सीता और रामके प्रेमकी महिमा तो वस्तुतः अपार है, उसमें डूबी। सांसारिक मोहकी अपारता तो झूठी है।

श्रीपोद्दारजी—उस (वात्सल्य-प्रेम) समुद्रके अंदर उन्होंने (आदिशक्ति) सीताजीके (अलौकिक) स्नेहरूपी अक्षयवटको बढ़ते हुए देखा।

टिप्पणी—३—*'मोह मगन मति नहिं बिदेह की।…'* इति। अर्थात् उनका ज्ञान मोहद्वारा विकल नहीं हुआ है। मोह तो देहमें अहं-ममबुद्धिका होना है कि राजा तो 'विदेह' हैं, तब उनको मोह कैसा? यह श्रीसीता-रामस्नेहकी महिमा है कि ऐसे ज्ञानियोंका भी ज्ञान विकल हो गया, डूबने लगा। रामप्रेमसे ज्ञानका व्याकुल होना शोभा है,* यही बात पूर्व भी लिख आये हैं कि *'जासु ग्यानरबि भवनिसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥'* से *'करनधार बिनु जिमि जलजानू'* तक २७७ (१—५) इसी प्रकार जानकीजीकी विदाईके समय दशा कही थी;—*'बंधु समेत जनक तब आये। प्रेम उमगि लोचन जल छाये। सीय बिलोकि धीरता भागी। रहे कहावत परम बिरागी॥ लीन्हि राय उर लाइ जानकी। मिटी महामरजाद ग्यानकी॥ समुझावत सब सचिव सयाने । कीन्हि बिचारु अनवसर जाने॥'*

पं०—भाव यह है कि और प्रेम मनमें मोह उत्पन्न करते हैं और श्रीरामजीमें प्रेम होनेसे तो मोह मिटता है। उसपर भी ये तो विदेह हैं।

दो०—सिय पितु मातु सनेह बस बिकल न सकी सँभारि।
धरनिसुता धीरज धरेउ समउ सुधरमु बिचारि॥ २८६॥
तापस बेष जनक सिय देखी। भयउ पेमु परितोषु बिसेषी॥ १॥
पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ। सुजस धवल जगु कह सबु कोऊ॥ २॥
जिति सुरसरि कीरति सरि तोरी। गवनु कीन्ह बिधि अंड करोरी॥ ३॥
गंग अवनि थल तीनि बड़ेरे। यहि किये साधु समाज घनेरे॥ ४॥

शब्दार्थ—**जिति**=जीतकर। **बिधि अंड**=ब्रह्माण्ड। **करोरी**=करोड़ों। **थल**=स्थान। **बड़ेरे**=बड़े।

अर्थ—माता-पिताके प्रेमके वश व्याकुल होनेसे श्रीसीताजी अपनेको न सँभाल सकीं। पृथ्वीकी पुत्री सीताजीने समय और अपना धर्म विचारकर धैर्य धारण किया॥ २८६॥ तपस्वी वेषमें श्रीसीताजीको देखकर श्रीजनकजीको अधिक प्रेम और संतोष हुआ॥ १॥ (वे बोले) बेटी! तूने दोनों कुलोंको (निमिकुल, रघुकुल, पिता और पतिके कुल) पवित्र किया, उज्ज्वल सुन्दर यश (जगत्‌में छा गया उसे)† सब लोग कह रहे हैं॥ २॥ तेरी कीर्तिनदीने गङ्गाको भी जीतकर करोड़ों ब्रह्माण्डोंमें गमन किया॥ ३॥ पृथ्वीपर

* 'रूप सील सिंधु गुनसिंधु बंधु दीननको दयानिधि जानमनि बीरबाहु बोलको। श्राद्ध कियो गीधको सराहे फल सबरीके सिलासाप समन निबाह्यो नेह कोल को॥ तुलसी उछाह होत रामको सुभाउ सुनि को न बलि- जाइ न बिकाइ बिनु मोल को। ऐसेहु सुसाहिब सों जाको अनुराग न सो बड़ोई अभागी भाग भागी लोभ लोल को॥' (क०)

† अर्थान्तर—तेरे निर्मल यशसे सारा जगत् उज्ज्वल हो रहा है। (गी० प्रे०)

गङ्गाने तीन ही स्थान बड़े बनाये हैं और (तेरी) इस-(कीर्तिनदी-) ने तो अगणित साधुसमाजरूपी स्थान बड़े (बनाये) हैं॥ ४॥

नोट—१ (क) *'सिय पितु मातु सनेह बस'* इति। सीताजीके स्नेहसे माता-पिता व्याकुल हुए इसीसे सीताजी उनके स्नेहसे व्याकुल हुईं, क्योंकि श्रीमुखवचन है कि—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** इति गीतायाम्। (पु० रा० कु०) धीर, संत, मुनि, सत्पुरुष दूसरोंका दुःख देखकर विकल होते ही हैं। यथा—*'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर।'* (७। ३८। १) (प० प० प्र०)

(ख) *'धरनिसुता'*— *'धरि धीरजु उर अवनिकुमारी।'* (६४। ४) देखिये। *'समउ सुधरम बिचारि'*— समय विपत्तिका और पतिके साथ वनवासका है। 'सुधर्म' कि (१) श्रीरामजी परमधर्मपर आरूढ़ हैं, मैं उनके साथ वानप्रस्थ और पातिव्रत्य धर्मका पालन कर रही हूँ। धर्ममें विकल होना धर्मसे च्युत होना है। व्याकुल होनेसे हमारे धर्मपर बट्टा लगेगा। (२) हम तपस्विनीवेषमें हैं। माता-पिता हमको व्याकुल देखकर दुःखी समझेंगे और अपने सङ्ग ले जानेको कहेंगे तब मैं कैसे कहूँगी कि पतिके सङ्ग जाऊँगी और वन न जाऊँ तो पातिव्रत्यधर्म जाता है। अतएव आज मुझे व्याकुल होना उचित नहीं। (शीला) (३) श्रीसीताजीने विचारा कि आपत्काल है इसमें धीरज और धर्मकी परीक्षा होती है, यथा—*'धीरज धरम मित्र अरु नारी। आपत काल परिखिअहिं चारी॥'* उत्तम मनुष्योंको धैर्य करना चाहिये। वा पृथ्वीका भार उतारनेका समय आ गया, मैं धीरज न रखूँगी तो बना-बनाया काम बिगड़ जायगा और मेरी माताका कष्ट न दूर होगा। (पं०)

नोट—२ *'तापस बेष''''पेमु परितोषु बिसेषी'* इति। तपस्वीवेष देखकर और सब व्याकुल हुए, सबको विशेष विषाद हुआ, यथा—*'तापस बेष जानकी देखी। भा सबु बिकल बिषाद बिसेषी॥'* (२८६। २) और होना ही चाहिये क्योंकि जो *'पलँगपीठ तजि गोद हिंडोरा। सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा॥'* वह सीता आज इस वेषसे वन-वन फिरती हैं पर इनको पातिव्रत्यधर्म समझकर बहुत प्रेम और संतोष हुआ। अपनी पुत्री है, वह ऐसी धर्मपर आरूढ़ है, इस वात्सल्यभावसे प्रेम पहलेसे भी अधिक हुआ। और आगे भी इसकी व्याख्या है।

नोट—३—(क) *'कुल दोऊ'*= नैहर और ससुराल। यहाँ 'कुल' शब्द बड़ा उत्तम है। 'कूल' नदीके किनारेको कहते हैं और आगे कीर्तिनदीका रूपक बाँधा गया है। (ख) *'जगु कह सबु कोऊ'* अर्थात् अपनी पुत्रीके विचारसे मैं यह नहीं कह रहा हूँ। वरन् यह सत्य है, सारा जगत् तुम्हारी प्रशंसा कर रहा है। यथा—**'कृतकृत्या महाभागा वैदेही जनकात्मजा। भर्तारं सागरान्तायाः पृथिव्या यानुगच्छति॥'** (वाल्मी० २। ९८। ११) **'कृतकृत्या हि वैदेही छायेवानुगता पतिम्। न जहाति रता धर्मे मेरुमर्कप्रभा यथा॥'** (वाल्मी० २। ४०। २४) 'अर्थात् वैदेही कृतकृत्य है, समस्त पृथ्वीके स्वामी अपने पतिके साथ जा रही है। वह धर्मरता छायाकी तरह पतिके साथको नहीं छोड़ती जैसे सूर्य प्रभा सुमेरुको नहीं छोड़ती। आगे इनकी सुकीर्तिको अधिक अभेद रूपकालंकारद्वारा गङ्गासे अधिक पावन और उत्तम दिखाते हैं।

(ग) *'बिधि अंड''''* ब्रह्माण्ड। पं० और रा० प्र० ने 'विधि' का अर्थ 'बेधकर' किया है और *'अंड'*= ब्रह्माण्ड। गङ्गाने एक ही ब्रह्माण्डको बेधा और तीन ही लोकोंमें थोड़ेसे स्थलमें हैं और तुम्हारी कीर्तिनदीने करोड़ों ब्रह्माण्डोंका बेधन करके सर्वत्र अपना उज्ज्वल यश फैला दिया। भाव कि गङ्गाकी गति तीन ही लोक और एक ब्रह्माण्डतक है और यह कीर्ति असंख्यों ब्रह्माण्डोंमें है।

नोट—४ *'गंग अवनि थल तीनि बड़ेरे।'''* इति। **'हरिद्वारे प्रयागे च गङ्गासागरसंगमे। सर्वत्र दुर्लभा गंङ्गा त्रयस्थाने विशेषतः॥'** गङ्गाने इन तीन स्थलोंको बड़ाई दी। इन्हीं तीन स्थलोंमें उसका बड़ा माहात्म्य माना गया है। और तुम्हारी उज्ज्वल कीर्ति नदीका माहात्म्य साधुसमाजमें है और साधुसमाज अगणित हैं, सभी साधुसमाज तुम्हारे इस सुयशसे बड़े हुए और होंगे। भाव कि जो-जो साधु तुम्हारी कीर्ति गायेंगे वे-वे बड़ाई पावेंगे। (पु० रा० कु०) यहाँ *'किए'* पदको तीनों कालमें लगाना चाहिये। (पं०)

वि० त्रि०—गङ्गाजीने तीन स्थान—हरद्वार, प्रयाग और गङ्गासागर ऐसे पुनीत बनाये कि उनके सेवनसे लोग संसारसागर तर जाते हैं पर सीताजीकी कीर्ति सरिताने न जाने कितने जङ्गम प्रयागराज (साधु-समाज) बनाये, जिनके सेवनसे मनुष्यको चारों फल सुलभ हो जाते हैं, यथा—'*मुद मंगलमय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथ राजू॥*'

पितु कह सत्य सनेह सुबानी। सीय सकुचि महुँ* मनहुँ समानी॥ ५॥
पुनि पितु मातु लीन्हि उर लाई। सिख आसिष हित दीन्हि सुहाई॥ ६॥
कहत न सीय सकुचि मन माहीं। इहाँ बसब रजनी भल नाहीं॥ ७॥
लखि रुख रानि जनायेउ राऊ। हृदयँ सराहत सील सुभाऊ॥ ८॥

दो०—बार बार मिलि † भेंट सिय बिदा कीन्हि सनमानि।
कही समय सिर भरत गति रानि सुबानि सयानि॥ २८७॥

शब्दार्थ—**समाना**=प्रविष्ट होना; घुस जाना। **समय सिर**=ठीक समय पाकर (यह अवधी मुहावरा है—दीनजी)। =सुअवसर पाकर, मौकेसे। **सुबानि**=सुन्दर स्वभाववाली, सुस्वभाव—(दीनजी)

अर्थ—पिताने तो स्नेहसे सत्य-सत्य सुन्दर वाणी कही। (पर) श्रीसीताजी (ऐसी देख पड़ती हैं) मानो संकोचमें समा गयी हैं॥ ५॥ माता-पिताने उन्हें फिर हृदयसे लगा लिया और सीताजीको सुन्दर हितकारी शिक्षा और आशीर्वाद दिये॥ ६॥ श्रीसीताजी मारे संकोचके कहती नहीं हैं पर मनमें सकुचा रही हैं कि रातमें यहाँ रहना अच्छा नहीं॥ ७॥ सीताजीका रुख देखकर (चेष्टासे उनकी रुचि जानकर) रानीने राजासे इस बातको जनाया। दोनों हृदयमें उनके शील-स्वभावकी सराहना करते हैं॥ ८॥ बार-बार सीताजीसे मिल-भेंटकर राजा-रानीने सम्मानपूर्वक उनको विदा किया। (तब) ठीक समय पाकर चतुर रानीने सुन्दर वाणीसे भरतजीकी दशा कही। उनका व्यवहार कहा॥ २८७॥

टिप्पणी—पु० रा० कु०—१ '*पितु कह सत्य सनेह सुबानी*...।' इति। (क) पिताने स्नेहसे सत्य सुन्दर वाणी कही पर सीताजी अत्यन्त सकुचा गयीं। भाव यह कि अपनी संतानकी प्रशंसा न करनी चाहिये, न उनके सम्मुख और न परोक्ष ही। यह नीति है। पर, जनकजीने स्नेहके मारे प्रशंसा कर दी, कीर्तिसे इतना प्रमोद हुआ कि वे नीति भूल गये, बात बिना कहे रहा ही न गया। पर सीताजी अत्यन्त संकोचमें डूब गयीं—'*निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं*' यह उत्तम पुरुषोंका लक्षण है। सत्य है, तब भी सुनकर संकोच होता है, लज्जा लगती है। (ख) 'संकोचमें समा गयीं' इसके भावके लिये '*चहत सकुच गृह जनु भजि पैठे।*' (२०६। ६) से मिलान कीजिये। अर्थात् सकुचरूपी घरमें जा घुसीं। वैसा ही रूपक यहाँ है। वही सब भाव यहाँ है।

टिप्पणी—२—'*पुनि पितु मातु लीन्हि उर लाई।*...' (क) उनका संकोच दूर करनेके लिये एवं इससे भी कि संकोच-गुण देख प्रेम और अधिक बढ़ गया, माता-पिता दोनोंने फिर हृदयसे लगाया। (ख)—'*सिख आसिष हित दीन्हि सुहाई*'= *हित सिष और सुहाई आसिष दीन्ह।*

टिप्पणी ३—'*सकुचि मन माहीं*' इति। संकोच यह कि हम सब सुखोंका तिरस्कार करके पतिके साथ आयीं। यथा—'*मातु पिता भगिनी सुत भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई॥ सासु ससुर गुर सुजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥ जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥ तन धन धाम*

* यही पाठ राजापुर, काशिराज आदिकी प्रतियोंमें है। पर 'सकुचि' के कारण लोगोंने 'महुँ' का 'महि' अथवा 'सकुचि' का 'सकुच' पाठ कर दिया है। पर इस तरहका प्रयोग और भी हुआ है, विशेषके स्थानोंमें बिसेषि कई स्थलोंमें है। 'अवधि' के स्थानमें 'अवध' एक ठौर आया है। वन्दन पाठकजी 'महि माहुँ' पाठ देते हैं।

† भेंटि'—रा० प्र०, गी० प्रे०।

धरनि पुर राजू। पतिबिहीन सब सोक समाजू॥ भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥ प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥' (६५। १—६) *'पितु बैभव बिलास मैं डीठा। नृपमनि मुकुट मिलत पदपीठा॥ सुखनिधान अस पितु गृह मोरें। पिय बिहीन मन भाव न भोरें॥ ससुर चक्कवइ कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ॥ आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अर्धसिंघासन आसन देई॥ ससुर एकादस अवध निवासू। प्रिय परिवारु मातु मम सासू॥ बिनु रघुपति पद पदुम परागा। मोहि केउ सपनेहु सुखद न लागा॥'* (९८। १—६) अब हम उसी सुखको ग्रहण करें यह उचित नहीं। कहाँ तो मैंने कहा था कि *'मो कहँ सुखद कतहुँ नाहीं'* और कहाँ मैं उनका साथ छोड़कर यहाँ रातमें सुखसे रहूँ। पति अकेले सबको छोड़ आश्रममें रहें और मैं परिजनोंमें रहूँ। दूसरे वानप्रस्थ धर्म भङ्ग हो जायगा।

टिप्पणी—४ *'लखि रुख रानि जनायेउ राऊ'''''।'* इति। स्त्रियोंकी चेष्टा स्त्रियाँ सहज ही जान लेती हैं—**'भुजंग एव जानीते भुजंगचरणे सखे'** (अज्ञात) **'अहिरेव ह्यहेः पादान् विजानाति न संशयः॥'** (वाल्मी० ५।४२।९) अर्थात् सर्प ही सर्पके पैरोंको जानता है। (यह श्रीजानकीजीने राक्षसियोंसे कहा है)[रुख कैसे लखा? उत्तर श्रीजानकीजीने ध्रुवकर्तरिकी ओर बार-बार देखा (अर्थात् दो तारे ध्रुवकी सदा परिक्रमा किया करते हैं, उनसे रात्रि जानी जाती है कि कितनी बीती) इससे समझ गयीं। वा, पूछा कि रात कितनी गयी। (पं०, रा० प्र०) अथवा, आसन आदि ग्रहण न किये इससे जाना। (वै०) *'सील सुभाऊ'* अर्थात् सद्वृत्ति और लज्जावन्त स्वभाव (पं०)। मनकी बात बिना कुछ कहे या संकेतके समझ लेना और राजाके चेत करना कि उन्हें जानेकी आज्ञा प्रदान करें 'विहित अलंकार' है। (वीर)]

टिप्पणी ५ *'सनमानि'* अर्थात् प्यार करके, आदमी साथमें करके आश्रमपर पहुँचा दिया। जब लड़की नैहर आती है तो उसको बहुत कुछ वस्तु देकर विदा किया जाता है, पर यहाँ सीताजी सबका त्याग किये हुए हैं इससे उनको कोई वस्तु दे नहीं सकते, इसीसे केवल *'सनमानि'* पद दिया।

टिप्पणी ६—*'कही समय सिर भरत गति रानि सुबानि सयानि'* इति।—मौकेसे बात कही जाती है तो सुननेवालेको प्रिय लगती है और सुफल होती है, यथा—*'तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ॥'''''मोर बचन सबके मन माना। साधु साधु करि ब्रह्म बखाना॥'* (१। १८५) अतः*'समय सिर'* अर्थात् सुन्दर अवसर पाकर कहा। बात सुन्दर वाणीसे और चतुरतापूर्वक कहनी चाहिये इससे यहाँ तीनों विशेषण दिये। कौसल्याजीने सुनयनाजीसे कहा था कि *'रानि राय सन अवसरु पाई। अपनी भाँति कहब समुझाई॥'* यहाँ उसीको चरितार्थ किया है। 'अवसरु पाई' ही यहाँ 'समय सिर' है। 'सयानी' हैं, इससे सुअवसर देखकर कि एकान्त है, राजा प्रेममें मग्न हैं, इस समय भरत-प्रेमकी चर्चाका प्रभाव पड़ेगा। गतिका अर्थ आगे खोलते हैं, यथा—*'सुनि भूपाल भरत व्यवहारू।'* र० प्र० और वै० ने 'सिर' का अर्थ 'समान' किया है।

सुनि भूपाल भरत व्यवहारू। सोन सुगंध सुधा ससि सारू॥१॥
मूँदे सजल नयन पुलके तन। सुजसु सराहन लगे मुदित मन॥२॥
सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि। भरत कथा भव बंध बिमोचनि॥३॥
धरम राजनय ब्रह्म बिचारू। इहाँ जथा मति मोर प्रचारू॥४॥
सो मति मोरि भरत महिमाही। कहइ काह छलि छुअति न छाँही॥५॥

अर्थ—सोनेमें सुगन्ध और अमृतमें चन्द्रमाके साररूप अमृतके समान भरतका व्यवहार सुनकर राजाने अपने अश्रुपूर्ण नेत्रोंको बंद कर लिया, उनका सारा (सर्वाङ्ग) शरीर पुलकित हो गया और वे मनमें आनन्दित होकर उनके सुन्दर यशकी बड़ाई करने लगे॥ १-२॥ हे सुमुखि! हे सुनयनी! सावधान (दत्तचित्त, मन, बुद्धि, चित्तसे एकाग्र) होकर सुनो। भरतजीकी कथा संसार-बन्धन—आवागमनसे छुड़ानेवाली है॥ ३॥ धर्मनीति, रजनीति और ब्रह्मविचार (वेदान्त) इनमें मेरी बुद्धिके अनुसार मेरा प्रवेश है, मेरी गति है। अर्थात् इन

विषयोंपर मैं बहुत कुछ कह सकता हूँ॥४॥ परंतु वही मेरी बुद्धि भरतकी महिमाको कहेगी तो क्या? वह तो उस महिमाकी छाँहतक छल करके भी नहीं छू पाती॥५॥

'सोन सुगंध सुधा ससि सारू' इति

पु० रा० कु०—व्यवहार (अर्थात् सुयश) सुधाका सार है और शशिका सार है अर्थात् मीठा और उज्ज्वल है। वा, शशिका सार जो अमृत है (उसके समान है)।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—भरतजीके व्यवहारको सोना कहा। सोना ऐसा जिसमें सुगन्ध भी हो। संसारकी कल्पना यहाँतक पहुँची। गोस्वामीजी और आगे बढ़े। उन्होंने उसमें अमृतसे स्वादकी भी कल्पना की। ऐसा सोना उन्हें भरतलालका व्यवहार दिखायी पड़ा। अब देखना यह है कि भरतका कौन-सा व्यवहार सोना है। उसमें सुगन्ध क्या है, और अमृतत्व क्या है। सोना, यथा—*'कनकहि बान चढ़ै जिमि दाहे। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहे॥'* सुगन्ध यथा—*'भायप भलि चहुँ बंधु की जल माधुरी सुबास।'* सुधाकर सार, यथा—*'जन रंजन भंजन भव भारू। रामसनेह सुधाकर सारू॥'*

प० प० प्र०—'सोन, सुगन्ध, सुधा और ससिसार' क्या है यह मानसकी श्रीभरत-सम्बन्धित चौपाइयोंमेंसे ही निकालना चाहिये। *'कनकहि बान चढ़इ जिमि दाहे। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहे॥'* (२०५। ५) यह भरत-वाक्य है। इससे सिद्ध हुआ कि 'प्रियतम पदनेम' ही सुवर्ण है। *'भायप भलि चहुँ बंधु की जल माधुरी सुबास।'* (१। ४२) यह मानस मुखबन्दमें कहा गया है। इसके अनुसार 'भायप' सुगन्ध है। अत: 'प्रियतमपदनेम' में भाईपनेका संरक्षण सोनेमें सुगन्ध है। *'पूरन राम सुप्रेम पियूषा।'''''' कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू॥'* (२०९। ५-६) यह भरद्वाजवाक्य है। इससे सिद्ध हुआ कि *'रामसुप्रेम'* ही सुधा है। और, *'परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू॥''''* ' ही *'रामसनेह सुधाकर सारू। सिय राम प्रेम पियूष पूरन''''* ' है (३२६। ५—८)। श्रीभरतजीका आचरण चन्द्रमाका सार है।

सियरामप्रेम अर्थात् श्रीयुगल सरकारोंके प्रेमसहित परम पुनीत आचरण सुधामें शशिसार है। ऐसा आचरण परम दुर्लभ है। पूर्व भी कहा है—*'भायप भगति भरत आचरनू। कहत सुनत दुख दूषन हरनू॥'* (२२३।१) इसमें केवल नेम-निर्वाहका उल्लेख नहीं है। सार इस प्रकार कहा जा सकता है—*'सोना प्रियतम पद युग नेमू। जहाँ गंग शुचि भायप क्षेमू॥ सुधा प्रेम सियरामचरण को। इन्दुसार आचार भरत को।'*

बाबा हरिदासजी— 'ये सब 'व्यवहार' के विशेषण हैं। 'सोनेमें सुगन्ध' यह मुहावरा है अर्थात् परमोत्कृष्ट, परमोत्तम, सबसे बढ़िया। सोना स्वयं ही उत्तम पदार्थ है। यदि उसमें सुगन्ध भी हो जाय तो इससे बढ़कर क्या? वह तो उत्तमसे भी उत्तम, सर्वोत्तम हो। पुन:, समुद्रसे निकला हुआ अमृत अच्छा पदार्थ है। अमृत जो नागलोकमें है वह भी उत्तम अमृत है पर जो अमृत चन्द्रमामें है वह उत्तमसे भी उत्तम है।' बाबा हरिदासजी इतना लिखकर फिर यह लिखते हैं कि वैसे ही भरतजी विष्णुके अवतार जगके पालक हैं। वे माता-पिता आदि सबका दिया हुआ राज्य करते, प्रजाका पालन करते तो सोनेके समान उत्तम था। यथा—*'अवसि नरेस बचन फुर करहू।'''''' तुम्ह कहुँ सुकृत सुजसु नहिं दोसू॥ बेद बिदित संमत सब ही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका॥'* (१७५। १—३) *'करतेहु राजु त तुम्हहि न दोषू। रामहि होत सुनत संतोषू॥'* (२०७। ८) उसमें अब पाँवरीको राजा बनाकर आज्ञा ले-लेकर वही राज्य पालन करेंगे, यह सोनेमें सुगन्धवत् है। यथा—*'अब अति कीन्हेउ भरत भल तुम्हहि उचित मत एहु। सकल सुमंगल मूल जग रघुबर चरन सनेहु॥'* (२०७) सुगंध और यशकी एकता है, यथा—*'तात तुम्हार बिमल जसु गाई। पाइहि लोकहु बंद बड़ाई॥'* (२०७। २)—यह सुगंध है। भरतजीमें जो यावत् धर्म हैं वे सब सुधारूप हैं, उसमें फिर रामभक्ति, यह सर्वोत्तम चन्द्र-अमिय है, यथा—*'नव बिधु बिमल तात जस तोरा। रामभगति अब अमिअ अघाहू। कीन्हेउ सुलभ सुधा बसुधाहू॥'* (२०९। १। ६) (शीला)। *'सुधा ससि सारू'* कहा, क्योंकि

वह अमृत सदा अमर बनाये नहीं रखता और इनका आचरण श्रीरामस्नेह 'सुधाकरसारू' है जो सदाके लिये भवबन्धनसे मोक्ष देता है।

श्रीबैजनाथजी—भरतजीके व्यवहारमय रानीके वचन सुनकर श्रीजनकमहाराज श्रीभरतजीके व्यवहारको विचार करने लगे। व्यवहार कैसा है? जैसे सोना और वह भी सुगन्धित। सुगन्धित सोनाका भाव कि भरतजी एक तो शुद्ध उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए। यथा— *'हंसबंस दसरथ जनक राम लषनसे भाइ।'* यह उत्तमता स्वर्ण है, उसपर *'गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्हि उजियारी॥'* यह और भी उत्तम है। यह सोनेमें सुगन्ध है। यह माधुर्य देश कहा। दूसरी उपमा ऐश्वर्य देशकी है।— (इन्होंने शशिचारू पाठ दिया है इसलिये उसे असङ्गत जानकर यहाँ नहीं दिया)।

पाँ०—सोनेके समान अर्थात् ज्यों-ज्यों कसा जाता है, त्यों-त्यों विशेष शोभित होता है। पुनः, सुगन्धके तुल्य है अर्थात् जो उसे स्पर्श करता है वह सुगन्धित हो जाता है—(जैसे उनके साथी उनका प्रेम देखकर प्रेममें डूब जाते थे।)

पुनः, सुधाके तुल्य है, जो उसे पान करता है वह अमर हो जाता है, यथा—*'कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू'* और शशिका सार है अर्थात् द्विजचन्द्रमाके सदृश है, प्रतिदिन बढ़ता है।

प०—व्यवहार जो सुना है वह जाम्बूनदके कञ्चनकी सुगन्ध है, अमृत और चन्द्रमाका सार है। जातिसे परम रुचिर होनेसे कनक-समान है और भक्तिपूर्वक होनेसे व्यवहारको परम सुगन्धित सुधाका सार कहा। अमृत मृतकको जीवित करता है और भरतका व्यवहार देखकर मृतक मन जीवित होते हैं। चन्द्रमा ओषधियोंको रस देता है वैसे ही भरतके प्रभावसे जिज्ञासुओंकी वृत्तिमें भक्ति आती है।

ख़र्रा—(१) सोना है अर्थात् भक्तोंके लिये धन है, सुगन्ध अर्थात् वासना लेने (पानेकी इच्छा करने) योग्य है। सुधा है भवरुजशान्त्यर्थ है और अमर भी करता है, शशिरूपसे तापहर्ता होकर भक्त कुमुदचकोरको सुखदाता है और सार अर्थात् कस्तूरी है; भक्त इसे मस्तकपर तिलकरूपसे धारण करेंगे। (२) सोनेमें सुगन्ध है, मधुरतामें सुधासार है और स्वच्छतामें शशिका सार है।

रा० प्र०—व्यवहार एक तो सोना उसपर भी सुगन्धयुक्त है। सुधारूप है अर्थात् स्वादिष्ट और जिलानेवाला है। *'ससिसारू'* अर्थात् उज्ज्वल है। भाव कि सुनने और विचारनेमें सुखदायक है।

श्रीनंगे परमहंसजी *'सोन सुगंध सुधा ससि सारू'* का अर्थ करते हैं कि 'अरुण पुष्पका सुगन्ध और चन्द्रमाका सार अमृतकी भाँति है।' और लिखते हैं कि 'जैसे अरुण पुष्पका सुगन्ध और सौन्दर्य जीवमात्रको प्रसन्न कर देता है, उसी प्रकार श्रीभरतजीका व्यवहार नीति और प्रीतियुक्त होनेसे चित्तको प्रसन्न करनेवाला है और जैसे शशिका सार अमृत अपने अमरत्वगुण और स्वादसे चित्तको प्रसन्न करता है वैसे ही श्रीरामजीकी प्रेमभक्ति जो श्रीभरतजीमें है वह अमृतकी भाँति अमर और स्वादप्रद होनेसे चित्तको प्रसन्न करती है अर्थात् परमपदको पहुँचानेवाली है। यथा—*'राम भगति अब अमिय अघाहू।'* सारांश यह कि श्रीभरतजीके व्यवहारसे परलोकहित (मोक्षकी प्राप्ति) चरितार्थ है, इसी भावके सूचक दो उपमाएँ *'सोन सुगंध'* और *'सुधा ससि सारू'* की दी गयी हैं। 'सोनामें सुगन्ध' अर्थ करनेसे भाव-विरोध हो जाता है, क्योंकि भरतजीका व्यवहार यथार्थ है और सोनेमें सुगन्ध कल्पनामात्र की जाती है। अतः जैसे भरतजीका व्यवहार यथार्थ है वैसे ही उपमाका अर्थ यथार्थ होना चाहिये। 'सोना' का अर्थ अरुण है, यथा—*'नींदउ बदन सोह सुठि लोना। मनहुँ साँझ सरसीरुह सोना॥'* *'सुभग सोन सरसीरुह लोचन।'* अतः यहाँ 'सोना' का अर्थ स्वर्ण नहीं हो सकता।

नोट—१ यहाँ व्यतिरेकालंकारसे पुष्ट निदर्शनालंकारका बड़ा ही अच्छा निर्वाह किया गया है। ऐसे मौकेपर निदर्शनालंकारका ही प्रयोग समुचित समझा जा सकता है। सोना उपमान है। उसमें सुगन्ध नहीं होती। भरतव्यवहार उपमेय है। उसमें यह उत्कृष्टता दिखायी कि वह ऐसा है जैसे सुगन्धमय सोना। पुनः, जैसे चन्द्रमाको निचोड़कर उसका साररूप अमृत ले लिया जाय, उसके एक भी दुर्गुण इसमें न आने पावें। जैसे भरद्वाजजीने भी कहा है—*'कीरति बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा'* इत्यादि—(२०९। १—६) देखिये।

सोनेमें सुगन्धका भाव टिप्पणियोंमें दिया है। भरतका सद्व्यवहार और सोनेमें सुगन्ध, दोनों वाक्योंमें अर्थमें विभिन्नता रहते हुए भी समताका भाव ऐसा आरोप किया गया कि दोनों एक-से जान पड़ते हैं। अतएव 'निदर्शनालंकार' है। (दीनजी, वीर)

टिप्पणी—१ (क) *'मूँदे सजल नयन'*—अर्थात् ध्यानावस्थित हो गये। शिवजीसे जब पार्वतीजीने प्रश्न किये थे तब उनकी भी यही दशा हुई थी, यथा—*'हर हिय रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए॥ श्रीरघुनाथ रूप उर आवा। परमानन्द अमित सुख पावा॥ मगन ध्यानरस दंड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह। रघुपतिचरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह॥'* (बा०१११)। वैसे ही यहाँ भक्तशिरोमणि भरतजीका व्यवहार सुनकर इनके नेत्रोंमें जल भर आया। शरीर रोमाञ्चित हुआ। नेत्र बंद करके वे ध्यानमें मग्न हो गये। फिर सावधान होकर भरतयशकी सराहना करने लगे। शिवजी *'हरषित बरनै लीन्ह'* वैसे ही ये *'सराहन लगे मुदित मन।'* शिवजीने कहा कि *'सावधान सुनु सुमति भवानी'* और यहाँ राजाने कहा कि *'सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि।'* (ख) 'सावधान' होकर सुननेको कहा, क्योंकि गूढ है, शीघ्र समझमें नहीं आता। 'सुमुखि' क्योंकि भक्तशिरोमणिका यश कहा है और 'सुलोचनि' नेत्रोंसे उनका कुछ व्यवहार देखा भी है। पुनः, 'सुलोचनि' अर्थात् दिव्य दृष्टिवाली हो, जो मैं कहता हूँ उसे विचारो।

टिप्पणी—२ *'भव बंध बिमोचनि'* यथा—*'भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं। सीयरामपद पेमु अवसि होइ भवरस बिरति॥'* (३२६)। 'कथा' पदसे जनाया कि प्रबन्धसहित कथा यत्र-तत्र इतस्ततः नहीं। कथा भवबन्धन छुड़ाती है, यह माहात्म्य प्रथम कहा। माहात्म्य सुनकर प्रतीति होती है, उससे प्रीति होती है तब चित्त लगाकर लोग सुनते हैं। कथा सुननेसे वैराग्य होगा, क्योंकि इनका चरित्र वैराग्यपूर्ण है और श्रीसीतारामपदारविन्दमें अनुराग होगा, उससे भव छूटेगा।

टिप्पणी—३—यहाँ भरतजीके प्रेममें राजाको मन-कर्म-वचन तीनोंसे मग्न दिखाया।

टिप्पणी—४ *'इहाँ जथा मति मोर प्रचारू'!* यह उत्तम लोगों और वक्ताओंके कहनेकी रीति है, यथा— *'कहौं सुमति अनुहारि अब।'* (१। ४७) (याज्ञवल्क्यजी; *'तदपि यथा श्रुत जसि मति मोरी। कहिहौं देखि प्रीति अति तोरी॥'* (१। १४४। ५)। (श्रीशङ्करजी), *'नाथ जथामति भाषेउँ राखेउँ नहिं कछु गोइ।'* (७।१२३)। (श्रीभुशुण्डिजी), *'रघुपति कृपा जथा मति गावा।'* (७। १३०। ४)। (श्रीमद्गोस्वामीजी)। यह विनीत भावका सूचक है। कोई-कोई 'यथा' का अर्थ 'यथातथ्य' जैसा चाहिये वैसा करते हैं; अर्थात् इनमें मेरी बुद्धि पूर्णतया प्रवेश कर चुकी है पर वही बुद्धि जो धर्म, राजनीति और वेदान्तके गूढ़ तत्त्वोंमें भटकती नहीं अर्थात् उनमें कहीं सन्देह नहीं है। वह भी यहाँ बिलकुल असमर्थ है।

टिप्पणी—५ *'छलि छुअति न छाँही।'* 'महिमा ही' में 'ही' निश्चयका अर्थ भी देता है। अर्थात् महिमाको निश्चय करके क्या कहेगी वह तो छलसे भी छायातकको नहीं पा सकती। हनुमान्‌जीकी छायाको सिंहिकाने छल करके पकड़ा था और मेरी बुद्धि भरतमहिमाकी छाया छूनेतक नहीं पाती, छाया पकड़ना ही दूर है फिर महिमाका जानना तो असम्भव है। 'छलसे छूना' यह है कि बनाकर भी कुछ कहा चाहें तो नहीं कह सकते। इसी प्रकार वसिष्ठजीकी मति असमर्थ थी, यथा—*'भरत महा महिमा जलरासी। मुनि मति ठाढ़ि तीर अबला सी॥ गा चह पार जतनु हिय हेरा।……'* (२५७। २—४)।' हनुमान्‌जीकी भी यही दशा हुई। (२५७। २—४) में देखिये।

पं० वि० त्रिपाठीजी— किसी बातको कहना और उसे सीमित करना एक बात है। भरतकी महिमा ऐसी अपार है कि उसके विषयमें कुछ कहा नहीं जा सकता, यथा—*भरत महामहिमा जलरासी। मुनि मति तीर ठाढ़ि अबलासी॥'* इत्यादि। दूसरी बात यह है कि वाणीकी गति वहीं है, जहाँ कुछ मायाका

सम्पर्क हो। भरतकी महिमामें माया-(छल-) का सम्पर्क ही नहीं है। अतः उसे कोई कैसे कहे? मायाके सम्पर्कके दूर करनेतक ही ब्रह्मविचार है, आगे विचारकी भी गति नहीं है। अतः भरतकी महिमा सर्वथा अकथनीय है।

बिधि गनपति अहिपति सिव सारद। कबि कोबिद बुध बुद्धि बिसारद॥ ६॥
भरत चरित कीरति करतूती। धरम सील गुन बिमल बिभूती॥ ७॥
समुझत सुनत सुखद सब काहू। सुचि सुरसरि रुचि निदर सुधाहू॥ ८॥
दो०—निरवधि गुन निरुपम पुरुषु भरतु भरत सम जानि।
कहिअ सुमेरु कि सेर सम कबिकुल मति सकुचानि॥ २८८॥

शब्दार्थ—**बिसारद**=दक्ष, निपुण, बहुत कुशल, विचक्षण। **रुचि**=कान्ति, उज्ज्वल, यथा—*'रचि रुचि जीन'''*, *'सुरुचि सुबास सरस अनुरागा'।* =स्वाद, यथा—*'तब तब कहि सबरी के फलन की रुचि माधुरी न पायी'*— (विनय०) '**निरवधि**'=निः अवधि=जिसकी सीमा नहीं, असंख्य।

अर्थ—ब्रह्मा, गणेश, शेष, शंकर, शारदा, कवि, कोविद, पण्डित और भी जो बुद्धिमें निपुण लोग हैं सब किसीको श्रीभरतजीका चरित, कीर्ति, करनी, धर्म, शील, गुण और निर्मल ऐश्वर्य समझने और सुननेमें सुख देनेवाला है, पवित्रतामें गङ्गाका और स्वाद एवं स्वच्छतामें अमृतका भी तिरस्कार करनेवाला है, अर्थात् अतिशय पवित्र और स्वच्छ एवं रुचिकर है॥ ६—८॥ उनके गुणोंकी सीमा नहीं। वे उपमारहित पुरुष हैं। श्रीभरतको श्रीभरतके ही समान जानो। क्या सुमेरुपर्वतको सेरके समान (बराबर) कह सकते हैं (यह सोचकर) कविसमाजकी बुद्धि सकुचा गयी॥ २८८॥

नोट—१ विधि सृष्टिके रचयिता हैं। इनसे अधिक बुद्धिमान् कौन हो सकता है। जिन वेदोंके सम्बन्धमें बड़े-बड़े विद्वान् मोहित रहते हैं उनका संचार प्रथम-प्रथम इन्हींके हृदयमें हुआ। यथा—'**तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।**' (भा० १। १। १) ये सबकी गति जानते हैं। गणेशजी ऐसे समर्थ हैं कि व्यासजीके लेखक बने और *'बिद्याबारिधि बुद्धि बिधाता'* हैं। शेषजी अपनी दो हजार जिह्वाओंसे अहर्निश प्रभुका यश गाते रहते हैं। शिवजी जैसे कुछ समर्थ हैं सभी जानते हैं कि शाबरमंत्रजालको ही कैसा प्रभाव दे दिया, दिनरात रामनाम सादर जपते हैं, राममय हैं। सरस्वती वक्ताओंमें सबसे शिरोमणि हैं। कवि जैसे उशना कवि जो भगवान्‌के रूप हैं, एवं वाल्मीकि—शुक्राचार्य आदि। कोविद, बृहस्पति, शौनक आदि। 'बुध' पण्डित लोग। बुद्धिविशारद अर्थात् और भी जो बुद्धिविचक्षण हों।

नोट २—संतवन्दनामें कहा था कि *'बिधिहरिहर कबि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥'* (१।३।११) ये सभी उत्तम वक्ता माने गये हैं। सन्तोंकी महिमा कहनेमें छः को असमर्थ कहा था और यहाँ भरतमहिमामें नौको। नव अङ्ककी सीमा है। नौ नाम देकर जनाया कि जहाँतक भी कोई वक्ता पाये जावें उनमेंसे कोई भी नहीं कह सकता। पुनः, ये सब मिलकर भी नहीं कह सकते। पुनः, इन्हें कहकर त्रैलोक्यके वक्ताओंको असमर्थ ठहराया। पुनः, विधि और शिव ईश्वर ही हैं, और गणेश, शेष, शारदा सुकवि हैं; यथा—*'बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेष गनेसु गिरा गमु नाहीं॥'* (३२५।८)। इनको एक चरणमें कहकर तब उनसे कम बुद्धिवालोंको दूसरे चरणमें कहा।

नोट—३— यहाँ 'हरि' को नहीं कहा, यद्यपि सन्तमहिमा कहनेमें 'हरि' को भी कहा था। कारण कि 'हरि' 'भगवान् रामचन्द्रजीके ही सात्त्विक रूप हैं, उनसे अभेद भी हैं, वे भी रामलीला करते हैं, रामरूप धारण करते हैं। और आगे रामके ही बारेमें कहेंगे कि वे भी नहीं कह सकते, यथा— *'जानहिं रामु न सकहिं बखानी।'* राम नहीं कह सकते इसीमें हरिका असमर्थ होना भी आ गया। अतएव इनका नाम न दिया।

पु० रा० कु०— (क) अथवा, विधि, गणपति, शेष, शिव और शारद ये ही *'कवि कोबिद बुध बुद्धि बिसारद'* हैं। ये पाँच और भरतजीके भी ५ गुण—चरित, कीर्त्ति, करतूत, धर्म और शीलगुण। ये पाँचों विमल विभूतियाँ हैं। (ख) वे पाँचों इन गुणोंमें मग्न होकर क्रमसे श्रवण-मनन करते हैं। चरित यह कि कुल-परम्पराको निर्मल रखा यह समझकर ब्रह्मा सुख पाते हैं। धर्ममें निष्ठा इस कीर्त्तिको गणेश सुनते-समझते हैं, इन्होंने इतने धर्मप्रतिपादक पुराण लिखे हैं। शेष ब्रह्माण्ड सिरपर धारण किये हैं, वे करतूत सुनते-समझते हैं, क्योंकि ये *'सकल धरम धुर धरनि'* को धारण किये हैं। *'सकल धरम धरनी धर सेसू'*। शिवजी भागवत-धर्मको समझते हैं। सरस्वती शीलगुणको विचारती हैं कि मन्थरा दुष्टाको भी पिटते रोका।

रा० प्र० कार—'चरित, कीर्त्ति, करतूत, धर्म, शीलगुण और उसका निर्मल ऐश्वर्य' पाँच गिनते हैं।

नोट—पर मेरी समझमें तो सातकी गिनती ही सर्वत्र हुई है।

पं०—'काव्यमें आरोहण रीति प्रशस्त है पर यहाँ अवरोहण है। यहाँ *'कवि कोबिद बुध बुद्धि बिसारद'* पूर्वार्धचरणके विशेषण हैं; अर्थात् विधि, गणेश आदि जो कवियों, कोविदों, देवताओं और बुद्धिमानोंमें चतुर हैं। विमलविभूति=आत्मविद्या।'

नोट—४ *'भरत चरित कीरति करतूती। धरम सील गुन बिमल बिभूती॥'* इति। यहाँ सात गुण कहकर इन्हें सप्तसमुद्रवत् अपार जनाया। पूर्व कौसल्याजीने भी सात ही कहे थे—*'भरत सील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई॥ कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे॥'* (२८३। ३-४) और आगे कविने भी सात ही गिनाये हैं—*'भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥'* (३२५। ७) तीनों जगह भरतजीके गुणोंको अथाह और अपार ही दिखानेके लिये ही सात-ही-सात गुण गिनाये हैं, यथा—*'कहिअ सुमेरु कि सेर सम,'* *'भरत अमित महिमा·····'* *'जानहि राम न सकहिं बखानी'*, *'सागर सीप कि जाहिं उलीचे'* और *'बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेस गनेस गिरा गमु नाहीं॥'* (३२५। ८)

श्रीजनकजी—*'भरत चरित कीरति करतूती। धरम सील गुन बिमल बिभूती॥'*

श्रीगुसाईंजी—*'भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥'*

श्रीकौसल्याजी—*'भरत सील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई॥'*

नामोंमें कुछ-कुछ भेद देख पड़ता है। मेरी समझमें यह भेद भी साभिप्राय है, सप्रयोजन है। श्रीकौसल्याजीके सामने उनका शील, उनकी विनम्रता, उनका निर्मल हृदय, भाईपना, भाईमें उनकी भक्ति और उनका दृढ़ विश्वास आदि हैं। शील मुख्य है, इसीसे उन्होंने उसको आदिमें देकर उसीके साथ और भी गुण कहे। श्रीभरतजीके अवध लौटनेपर उनकी रहनी-सहनी और समझपर कवि मुग्ध हैं और वहाँ यही दोनों प्रधान हैं ही—समझ कैसी कि चरणपादुकाको ही राजा बनाया और रामको वनमें तपस्वी-वेषमें समझ आप भी वैसे ही वेषसे रहे। उन्होंने गुरुसे जाकर प्रार्थना की कि *'आयसु होइ त 'रहउँ' सनेमा'* और मुनिने उत्तर दिया कि *'समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सारु जग होइहि सोई॥'* (३२३। ८) उसीके अनुसार कविने *'रहनि'* और *'समुझनि'* को प्रथम कहकर तब शेष सम्बन्धी गुण कहे। यहाँ श्रीजनकजी उनके चरित्रमात्रपर मुग्ध हैं। जब उन्होंने गुप्तचरोंको भेजा तब कहा, *'बूझि भरत सतिभाउ कुभाऊ। आयहु बेगि न होइ लखाऊ॥'* (२७१। ९), सद्भावका अर्थ सदाचार है ही और आचरण और चरित पर्याय हैं। यहाँ भी उन्होंने रानीसे कहा—*'सावधान सुनु·····।' भरत कथा भवबंध बिमोचनि'*। अर्थात् उनके सम्पूर्ण चरित्रने इनके मनको हरण कर लिया है, इससे 'चरित' को आदिमें कहकर चरितसम्बन्धी सब गुण कहे। प्रिय पाठक तीनोंका मिलान करें तो तीनोंका समन्वय कर लेंगे।

नोट—५—*'समुझत सुनत सुखद सब काहू।·····'* अर्थात् सब सुना करते हैं और मनन करते हैं क्योंकि *'सियराम प्रेम पियूष पूरन'* है, *'रामभगतिरस सिद्धिहित भा यह समय गनेसु'* और सुनकर सुख पाते हैं। ऐसा रुचिकर है और पावन है। सुन-समझकर सुख पाते हैं, यह कहकर दूसरे चरणमें उसका कारण

कहा; अपनेको परमपवित्र बनानेके लिये उसे सुनकर मनन किया करते हैं और अमृतसे भी अधिक रुचिकर है। इसीसे निरन्तर '*करहिं श्रवणपुट पान*'।

नोट ६—'*सुचि सुरसरि निदर सुधाहू*......' इति। —ऐसा ही कविने स्वयं कहा है—'*परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुदमंगल करनू॥*' पेट भरा भी हो तब भी रुचिकर पदार्थ पाकर पेट जगह कर लेता है और अमृत मिल जाय तो कहना ही क्या? वह तो स्वादिष्ट और गुणद होनेसे रुचिकर है पर उसे पीकर फिर रुचि रह नहीं जाती और इनके चरितमें ऐसा स्वाद है कि इससे मन कभी अघाता नहीं।

प० प० प्र०—श्रीभरतजीका आचरण परम पुनीत है। यथा—'*परम पुनीत भरत आचरनू*'। वैसे ही सुरसरि भी परम पुनीत हैं। यथा—'*जेहि पद सुरसरिता परम पुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी।*' (१। २११) श्रीभरतजीका आचरण '*मधुर मंजु मुदमंगल करनू*' है। वैसे ही सुरसरिता भी '*गंग सकल मुदमंगल मूला (?)* हैं, '*सुधा सलिल भरित।*' (वि०), (सुधासे मधुर), '*सोहत ससि धवल धार*' (धवलमें 'मंजु' का भाव है)। इस मिलानसे भरत-चरितकी और गङ्गाजीकी पवित्रता समान देख पड़ती है, तब शशिसारको सुरसरिसे अधिक कैसे कहा? समाधान यह है कि रात्रिके चार पहरोंमेंसे बीचके दो पहरोंमें गङ्गास्नान करना वर्ज्य है पर भरतचरितकी कीर्ति '*निसि दिन सुखद सदा सब काहू*' है। यह सर्वकालमें अपनी पवित्रतासे पवित्र करके सुख देती है।

'*रुचि निदर सुधाहू*' इति। सुधामें स्वाद है और तोष है पर शशिसार नहीं है और भरत-चरित आदिमें सुधा और शशिसार दोनों हैं। पुनः, सुधापानसे सापेक्षतासे अमरत्वकी प्राप्ति होती है। पर भरतचरितसे '*सीयराम प्रेम अवसि होइ भव रस बिरति*' जो स्वर्गीय सुधासे कदापि नहीं मिलेगा। अतः सुधासे भी श्रेष्ठ कहा। [उपमान गङ्गा और अमृतसे उपमेयमें अधिक गुण कहना 'व्यतिरेक अलंकार' है। (वीर)]

नोट—७ '*निरवधि गुन निरुपम पुरुषु भरतु भरत सम जानि*' इति।—जो निरवधि है जिसकी सीमा ही नहीं उसकी सीमा कहाँसे पा सकते हैं, जो निरुपम है जिसकी उपमा ही नहीं उसकी उपमा कहाँसे दी जा सके? अतः भरतकी उपमा भरत ही हैं यह निश्चय किया। यह 'अनन्वय अलंकार' है। सुमेरु पर्वत कई लक्षयोजनका लम्बा-चौड़ा है उसकी उपमा कोई दे कि वह सेरके समान है तो कौन भला कहेगा, सभी उसकी बुद्धिपर हँसेंगे। वैसे ही श्रीभरतजीकी कोई दूसरी उपमा दे तो वह वैसी ही तुच्छ होती है जैसी सुमेरुके सामने सेर महान् तुच्छ और उपमा देनेवालेकी हँसी होगी।

इसी प्रकार श्रीरामकी उपमा श्रीराम हैं यह भुशुण्डि आदिने कहा है। दोनोंके मिलानका नकशा दिया जाता है। इससे भाव और भी स्पष्ट हो जाते हैं।

श्रीभरतजी	श्रीरामजी
रुचि निदर सुधाहू	*श्रवण पुट पान करि नहिं अघात मति धीर*
सुचि सुरसरि निदर	*तीरथ अमित कोटि सत पावन*
निरवधि गुन निरुपम पुरुष	*निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा॥*
भरतु भरत सम जानि	*निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहैं॥*' (उ० ९२)
कहिय सुमेरु कि सेर सम	*जिमि कोटि सत खद्योत सम रबि कहत अतिलघुता लहै*
भरत अमित महिमा सुनु रानी।	*राम अमित गुन सागर थाह कि पावइ कोइ*
जानहिं राम न सकहिं बखानी॥	
सागर सीप कि जाहिं उलीचे।	

'*कवि कुलमति*' से जनाया कि जिनको ऊपर गिना आये वे सब सकुचते हैं। क्योंकि यदि कुछ कहें तो हँसी होगी। यहाँ 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है।

अगम सबहि बरनत बर बरनी। जिमि जलहीन मीन गमु धरनी॥ १॥

भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं रामु न सकहिं बखानी॥ २॥

बरनि सप्रेम भरत अनुभाऊ। तिय जिय की रुचि लखि कह राऊ॥ ३॥
बहुरहिं* लषनु भरतु बन जाहीं। सब कर भल सब के मन माहीं॥ ४॥

शब्दार्थ—**बर बरनी**=श्रेष्ठ वर्णवाली, परम सुन्दरी। **अनुभाऊ**=अनुभाव, प्रभाव, महिमा, उत्तम भाव। **अनुभावः प्रभावे च सतां च मतिनिश्चय इत्यमरः। अस्यार्थः सतां मतेर्ज्ञानस्य निश्चये यथा महानुभावः।**

अर्थ—हे श्रेष्ठ वर्णवाली! सभीके लिये भरतमहिमाका वर्णन करना वैसा ही अगम है, जैसा जलरहित पृथ्वीपर मछलीका चलना॥ १॥ हे रानी! सुनो, भरतजीकी अमित महिमाको मात्र श्रीरामजी ही जानते हैं पर वे भी वर्णन नहीं कर सकते॥ २॥ प्रेमपूर्वक भरतकी महिमा कहकर और पत्नीके मनकी रुचि समझकर राजा बोले—॥ ३॥ लक्ष्मणजी लौटें और भरत वनको जायँ, इसमें सबका भला है और यही सबके मनमें है॥ ४॥

नोट—१ *'अगम सबहि बरनत बर बरनी।……'* इति। (क) पूर्व कहा था कि उपमा देनेमें उनकी बुद्धि संकुचित होती है और यहाँ कहते हैं कि महिमा तो वर्णन ही नहीं कर सकते, उसका वर्णन कैसा दुर्गम है जैसा मछलीका सूखी जमीनपर चलना। (पु० रा० कु०) (ख) मछली जलके आधारपर चल सकती है, वैसे ही कवि विषयरसयुक्त गुणोंको कह सकते हैं। पर भरतजीमें विषयसे निरस दिव्य गुण हैं इसीसे कवियोंकी वहाँतक पहुँच नहीं। (वै०) (ग) मछली जलहीन धरणीमें चले तो दो-चार हाथ उछलकर चल सके तो उससे क्या पृथ्वीका ओर-छोर मिल सकता है? वैसे ही कविलोग कुछ कहें भी तो क्या उसका पार पा सकते हैं? (खर्रा) पर, यहाँ सर्वथा, अगम्य होनेसे प्रयोजन है, उतना ही अंश उपमाका अभिप्रेत है। यहाँ 'उदाहरण अलंकार' है।

☞ *'बर बरनी'* पद इस ग्रन्थमें दो ही स्थलोंपर आया है। एक यहाँ, दूसरे मगवासिनियोंके प्रश्नपर कि *'सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे'*; पर श्रीजानकीजीके संकोचवश होनेपर यथा—*'दुहुँ सँकोच सकुचति बर बरनी।'* (११७। ३) इसका अर्थ वहीं देखिये। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि वहाँ श्रीजानकीजीको और यहाँ उनकी माताको ही यह विशेषण दिया गया है। इससे इसमें कुछ कारण विशेष अवश्य है। पाठक इसपर विचार करें। हो सकता है कि जैसे वहाँ पतिको जैसे इशारेसे सीताजीने बताया था वैसे ही यहाँ सकुचती हुई इन्होंने कौशल्याजीके मतका लक्ष्य कराया, मुखसे उसे न कहा और जनकजी समझ भी गये—इस कारण दोनों जगह 'बर बरनी' विशेषण दिया। 'बर बरनी' का अर्थ श्रेष्ठ वर्णन करनेवाली भी हो सकता है।

नोट—२ *'जानहिं रामु न सकहिं बखानी'* इति। भाव कि वे अन्तर्यामी हैं, सर्वज्ञ हैं, इससे सब जानते हैं। श्रीरामजीने स्वयं कहा है कि *'तात तुम्हहिं मैं जानउँ नीके। करउँ काह असमंजस जीके॥'* (२६४। ५) यहाँ 'वाच्यसिद्धाङ्गगुणीभूत व्यङ्ग' है। जानते हैं पर 'अमित' होनेके कारण कह नहीं सकते। यहाँ महिमाकी अनन्तता अभिप्रेत है। राम जो सबमें रमण कर रहे हैं जब वे ही नहीं कह सकते तब इनसे समर्थ तो और कोई है ही नहीं जो कहे।

टीकाकारोंने इसके अनेक भाव दिये हैं। पाठक स्वयं विचार लें। १—उनकी महिमाको अपनी महिमा जानते हैं या अपनी महिमाके तुल्य जानते हैं। अपनी महिमा अपने मुखसे नहीं कह सकते इसीसे उसे भी नहीं कह सकते। २—भरत छोटे हैं, अतः उनकी प्रशंसा करना ठीक नहीं, बराबरका या बड़ा हो तो कहते, यथा—*'लखि लघु बंधु बुद्धि सकुचाई। करत बदन पर भरत बड़ाई॥'* (२५९)। ३—वर्णन करते-करते प्रेममें मग्न हो जाते हैं, यथा—*'कहत भरत गुन सील सुभाऊ। प्रेम पयोधि मगन रघुराऊ॥'* (२३२); इससे कह नहीं पाते।

---

* 'बरनहि—(ला० सीताराम)। यह अशुद्ध जान पड़ता है। श्री वि० त्रि० जीका मत है कि 'बरनहि' पाठका अन्वय इस प्रकार करना चाहिये—'लषनु बर नहि भरत बन जाहिं……'=लक्ष्मणका जाना अच्छा नहीं, भरत वन जायँ इसीमें सबका हित है और यही बात सबके मनमें है।'

नोट—३ *'बरनि सप्रेम'*— भक्त-भगवन्तका यश प्रेमसे कहना ही चाहिये। *'रुचि लखि'*— क्या रुचि देखी, यह आगे स्पष्ट है—*'बहुरहिं लषन भरतु बन जाहीं। ....'* जान पड़ता है कि रानीने भरतगति कहकर अपनी रुचि इशारेसे यहीं जनायी थी। *'तिय रुचि लखि'* से जनाया कि कौसल्याजीकी तरफसे उन्होंने नहीं कहा। यहाँ कौसल्याजीके वचनोंको चरितार्थ और *'अपनी भाँति'* का अर्थ स्पष्ट किया है। कौसल्याजीने कहा था—*'अपनी भाँति कहब समुझाई। रखिअहिं लषन भरत गवनहि बन।'* (२८४) उसीपर श्रीजनकजी अपना विचार प्रकट कर रहे हैं। क्योंकि कौसल्याजीने कहा था कि *'जौं यह मत मानइ महीप मन'*। जान पड़ता है कि वैसा ही श्रीसुनयनाजीने भी कहा था।

देबि परंतु भरतु रघुबर की। प्रीति* प्रतीति जाइ नहिं तरकी॥ ५॥
भरतु अवधि सनेह ममता की। जद्यपि रामु सीम† समता की॥ ६॥
परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे॥ ७॥
साधन सिद्धि रामपग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥ ८॥
दो०—भोरेहु भरत न पेलिहहिं मनसहुँ राम रजाइ।
करिअ न सोचु सनेह बस कहेउ भूप बिलखाइ॥ २८९॥
राम भरत गुन गनत सप्रीती। निसि दंपतिहि पलक सम बीती॥ १॥

शब्दार्थ—'देवी' सम्बोधन है। देवी=वह रानी जिसका राजाके साथ अभिषेक हुआ हो, पटरानी, यथा—'**देवी कृताभिषेकायामितरासु च भट्टिनी**' इत्यमरे।=दिव्यगुणवाली, सुशीला और सदाचारिणी स्त्री।—यह शब्द आदरसूचक है। तरकना=तर्क करना, अनुमान करना, बुद्धिसे सोच-विचार करना—*'तरकि न सकहिं बुद्धि अनुमानी।'* हेतुपूर्ण युक्तिद्वारा विवेचना करना। पेलना=टालना, अवज्ञा करना, यथा—*'आयेहु तात बचन मम पेली'*। (आ०); *'प्रभु पितु बचन मोहबस पेली'*। **मनसहुँ**= मनसे भी, यथा—*'प्रभु मनसहिं लैलीन मन चलत बाजि छबि पाव....'* (बा०), *'जिमि परद्रोह निरत मनसा के'*— (लं०)।

अर्थ—परंतु हे देवि! श्रीभरत-रघुवरकी पारस्परिक प्रीति और प्रतीतिका तर्कद्वारा अनुमान नहीं किया जा सकता॥ ५॥ यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी समताकी सीमा हैं तथापि भरतजी स्नेह और ममताकी सीमा हैं॥ ६॥ सारे परमार्थ, सारे स्वार्थ और सारे सुखोंको (की ओर) भरतजीने स्वप्नमें भी (जाग्रत्‌की तो बात ही क्या और कर्म-वचनमें परिणत होनेकी कौन कहे उन्होंने कभी) मनसे भी न देखा॥ ७॥ श्रीरामचरणानुराग ही साधन है और यही सिद्धि, बस मुझे तो श्रीभरतजीका यही सिद्धान्त समझ पड़ता है॥ ८॥ राजाने विलखकर, प्रेमार्द्र होकर रानीसे कहा कि भरतजी भूलकर भी श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञाको मनसे भी न टालेंगे (वचन और कर्मसे टालना तो सर्वथा असम्भव है), आप स्नेहके वश होकर चिन्ता न करें॥ २८९॥ श्रीरामचन्द्रजी और श्रीभरतजीके गुणोंको प्रेमपूर्वक कहते और विचार करते हुए स्त्री-पुरुष राजा-रानी दोनोंको रात्रि पलक-समान बीत गयी॥ १॥

"देबि परंतु भरतु रघुबर की। प्रीति....." इति

पु० रा० कु०—भाव कि जो सब चाह रहे हैं कि श्रीभरतजी वनको साथ जायँ और लक्ष्मणजी लौटें, यह विचार तो तब प्रकट किया जा सकता है जब श्रीराम और श्रीभरतके विश्वास और प्रेमका पता चले, उसका अटकल मिले। बिना इस अटकलके पाये लक्ष्मणजीको लौटानेको भी नहीं कहा जा सकता। *'प्रीति प्रतीति'* परस्पर एक-दूसरेमें। [परस्पर प्रेम दोनोंका प्रकट ही है, श्रीभरतका पूर्ण चरित इस रंगमें रँगा हुआ है और श्रीरामका भी प्रेम उनपर कम नहीं। भरतके लिये ही उन्होंने राज्यका त्याग किया—*'राम हृदय अस बिसमउ भयऊ......।'* (१०। ४—८) *'रामहिं बंधुसोच दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदउ*

* प्रीत।
† सीय— (ला० सीताराम)।

जेहि भाँती॥' (७। ८) *'कहत भरत गुन सील सुभाऊ। पेम पयोधि मगन रघुराऊ॥'* (२३२। ८) से (२३२) तक, *'मन प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करउँ सोइ आजु।'* (२६४) इत्यादि प्रेमके प्रमाण हैं। औरोंने भी परस्पर प्रीतिको देखा है। यथा—*'कहति राम प्रिय तात तुम्ह सदा बचन मन काय।'* (१६८) *'राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे॥'* (श्रीकौसल्यावाक्य), *'राम प्रेममूरति तनु आही।'* (१८४। ४) (अवधसभा), *'तुलसी न तुम्ह सों राम प्रीतम कहतु हौं सौहें किए।' 'राम तुम्हहिं प्रिय तुम्ह प्रिय रामहिं। यह निरजोसु……।'* (२०१। ८) (श्रीनिषादराजवाक्य), तथा *'सुनहु भरत रघुबर मन माहीं। पेम पात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं। तुम्ह पर अस सनेह रघुबर कें। सुख जीवन जग जस जड़ नर कें॥ तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥'* (२०८। ३—८) (श्रीभरद्वाजवाक्य) प्रतीति भी दोनोंकी देख लीजिये—*'आपन जानि न त्यागिहहिं मोहिं रघुबीर भरोस।'* (१८३) और *'भरत कहे महुँ साधु सयाने।'* (२२७। ५) इत्यादि। भरतको विश्वास है कि *'जग मंगल हित एक उपाऊ।'* प्रभु प्रसन्न होकर जो आज्ञा देंगे उससे *'सब मिटिहि अनट अवरेब।'* (२६९) और प्रभुको भी विश्वास है कि *'भरत कहहिं सोइ किये भलाई।'* (२५९। ८) और आगे 'दरबारे आम' तो प्रतीतिका पूर्ण स्वरूप ही है। *'मोहिं सब भाँति भरोस तुम्हारा।'* (३०५। ४)

पाँ०, रा० प्र०— यहाँ भरतकी प्रीति और रघुवरका विश्वास समझना चाहिये। भाव यह कि क्लेशके भयसे राघव भरतको साथ चलनेको न कहेंगे और भरतजी बिना आज्ञाके वनको न जायँगे क्योंकि आज्ञामें उनको विश्वास है।

पं०—भाव कि भरतने रघुवरको अपने स्नेह और ममत्वसे वश कर लिया है।

प० प० प्र०— यथा— *'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती। प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।' 'तात तुम्हहिं मैं जानउँ नीके'…… 'तेहि ते अधिक तुम्हार सँकोचू।'*

'जाइ नहिं तरकी' अर्थात् विचारमें नहीं आती, विचारमें आवे तो कुछ कहा भी जाय, उनकी थाह ही नहीं मिलती तब कहा कैसे जाय?

"भरतु अवधि सनेह ममता की……जद्यपि रामु……"

१—पण्डित रामकुमारजी इसका अन्वय यह करते हैं—'यद्यपि राम समताकी सीमा हैं तथापि भरतके स्नेहसे (वा, स्नेह और) ममताकी भी अवधि हैं'। तात्पर्य यह कि समताकी सीमा होकर भी वे उस सीमाको तोड़ ममताकी अवधि बन गये हैं। भरतके प्रेमसे उनका उनपर हद दर्जेका ममत्व और प्रेम है। ममत्व-(और प्रेम-) की सीमा यह कि अपनी प्रतिज्ञा उनके लिये छोड़ दी—*'कहहु करउँ सोइ आजु।'* इस अर्धालीमें भरतके स्नेहसे रामजीकी प्रीति भरतमें कही और आगे भरतकी प्रीति राममें कैसी है यह कहते हैं—*'परमारथ स्वारथ सुख सारे……।'*

रघुवरकी प्रीति-प्रतीतिका अनुमान नहीं किया जा सकता, उसीके सिलसिलेमें ये और अगली चौपाइयाँ हैं, उन्हींकी यहाँ व्याख्या है। इस अर्धालीमें श्रीरामका प्रेम और विश्वास भरतपर दिखाया और आगे दोहेतक श्रीरामपर भरतजीका प्रेम और विश्वास दिखाते हैं कि किस हद दर्जेका है। समताका प्रमाण यथा—*'सब पर मोहि बराबरि दाया', 'समदरसी मोहि कह सब कोऊ।'*

२—अन्य टीकाकारोंने यह अर्थ किया है—'यद्यपि राम समताकी सीमा हैं तथापि भरत स्नेह और ममताकी सीमा हैं अर्थात् भरतजीका प्रेम और ममत्व श्रीरामजीमें कम नहीं। बैजनाथजी आदिने यही अर्थ किया है। पर साथ ही यह भी लिख दिया है कि स्नेह और ममता रघुनन्दनमें भी है।

गौड़जी— चौपाईका शब्द-विन्यास पण्डितवर रामकुमारजीके अन्वयका पोषक नहीं है। स्पष्ट अन्वयार्थ यह होता है—

'परन्तु, हे देवि! भरत और रघुवरकी पारस्परिक प्रीति और प्रतीति तर्कणामें आ नहीं सकती। यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी समताकी सीमा हैं, तथापि भरतजी भी तो स्नेह और ममताकी सीमा हैं।' ध्वनितार्थ यह है कि प्रभुका समताकी सीमा होनेका अभिप्राय है। **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** जो जैसे

मुझे भजता है उसे वैसे ही मैं भी भजता हूँ।' यही वास्तविक समता है, समभाव है। परन्तु भरत तो (श्रीरघुनाथजीसे) स्नेह और ममताकी अवधि हैं। इसीलिये प्रभुमें अवश्य ही उतनी ही आत्यन्तिक, स्नेह और ममता उनके प्रति होनी ही चाहिये। वह है ही । प्रतीति और प्रीति दोनों ओर आत्यन्तिक हैं। आगे चलकर भरतके ही स्वभावका वर्णन इस तर्क-शैलीके पोषणमें करते हैं। भरतजी स्वार्थ, परमार्थ और सुख आदिकी ओर तो सपनेमें भी ध्यान नहीं देते। उनका साधन-सिद्धि सब कुछ रामके चरणोंमें प्रीति है। ऐसी अव्यभिचारिणी भक्ति रखते हुए वह श्रीरामजीकी आज्ञाका उल्लङ्घन तो मनमें भी नहीं कर सकते। श्रीरामजीको भी इसी बातकी पूरी प्रतीति है। स्नेहकी हद है कि अपना व्रत भी भरतके हाथमें छोड़ देते हैं। *'भरत कहहिं सोइ किये भलाई।'* यही भाव भरतजीका भी है। ध्वनितार्थ इतना स्पष्ट है कि अन्वयकी खींचातानीकी आवश्यकता नहीं है।

प० प० प्र०— स्नेह भगवान् जानकर और ममत्व भ्रातृताजनित।

नोट—*'रामु सीम समता की'* इति। *'जद्यपि सम नहिं राग न रोषू।''''' तदपि करहिं सम बिषम बिहारा॥'* (२१९। ३—५) देखिये। गीतामें भी कहा है—**'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥'** (९। २९) भाव कि जो देव, मनुष्य, तिर्यक् और स्थावरोंके रूपमें स्थित हो रहे हैं तथा जाति, आकार, स्वभाव और ज्ञानके तारतम्यसे अत्यन्त श्रेष्ठ और निकृष्ट रूपमें विद्यमान हैं, ऐसे सभी प्राणियोंके प्रति उन्हें समाश्रय देनेके लिये मेरा समभाव है। 'यह प्राणी जाति, आकार, स्वभाव और अज्ञानादिके कारण निकृष्ट है' इस भावसे कोई भी अपनी शरण प्रदान करनेके लिये मेरा द्वेषपात्र नहीं है अर्थात् उद्वेगका पात्र समझकर त्यागने योग्य नहीं है। तथा शरणागतिकी अधिकताके सिवा, अमुक प्राणी जाति आदिसे अत्यन्त श्रेष्ठ है, इस भावको लेकर अपना समाश्रय देनेके लिये मेरा कोई प्रिय नहीं है, इस भावसे मेरा कोई ग्रहण करने योग्य नहीं है। बल्कि मुझमें अत्यन्त प्रेम होनेके कारण मेरे भजनके बिना जीवन धारण न कर सकनेसे जो केवल मेरे भजनको ही अपना एकमात्र प्रयोजन समझनेवाले भक्त मुझे भजते हैं, वे मेरे समान गुणसम्पन्न होकर मुझमें ही बर्तते हैं और मैं भी, मेरे श्रेष्ठ भक्तोंके साथ जैसा बर्ताव होना चाहिये, उसी प्रकार उनके साथ बर्तता हूँ। (श्रीरामानुजभाष्य)

श्रीनंगे परमहंसजी—'श्रीभरतजी वनको जायँ, लक्ष्मणजी न जायँ' इसके उत्तरमें श्रीजनकजी कहते हैं कि भरतजी स्वयं ही श्रीरामजीके ऊपर स्नेह और ममता करनेकी सीमा हैं। यद्यपि श्रीरामजी स्नेह और ममता नहीं चाहते हैं, क्योंकि वे तो समताकी सीमा हैं। अर्थात् उनका न कोई शत्रु है न मित्र। जब श्रीरामजी समताकी सीमा हैं और भरतजी स्नेह और ममताकी सीमा हैं तब दोनों भाइयोंके बीचमें कोई क्या सम्मति देगा। अर्थात् श्रीरामजी तो साधारण मनुष्यका भाव रखते हैं और भरतजी श्रीरामजीमें प्रेम करनेकी सीमा हैं तो भरतजीके लिये श्रीरामजीसे क्या कहना-सुनना है? इसलिये दोनों भाइयोंके बीचमें किसीको कुछ कहनेका प्रयोजन नहीं है।

नोट—१ *'परमारथ स्वारथ सुख सारे।''''''* इति। यथा—*'नाहिन डरु बिगरहि परलोकू', 'नहिं दुख जिय जग जानहि पोचू।'* (२११। ५-४) 'परमार्थ'= परलोक साधन, मोक्ष आदि। 'स्वार्थ'—इस लोकके सुख। इसका अर्थ यह भी किया जा सकता है—परमार्थ और स्वार्थके सारे सुख।

नोट—२ *'साधन सिद्धि रामपग नेहू'* इति। साधन-सिद्धिका भी अर्थ लोगोंने 'साधनकी सिद्धि' किया है पर 'साधन और सिद्धि' यही अर्थ उत्तम है। रामभक्तोंके लिये भक्ति ही साधन है और भक्ति ही सिद्धि; *'सोइ फल सिद्धि सब साधन फूला'।* भक्ति करके वे (भक्त) भक्ति ही चाहते हैं, चरणोंमें प्रेम करते हैं और यह चाहते हैं कि सदा आपके प्रेमकी प्यास रहे, यथा—*'सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भक्ति निज देहीं॥'* *'अस बिचारि हरिभगत सयाने। मुकुति निरादर भगति लुभाने॥'* *'परहु नरक फल चारि सिसु मीच डाकिनी लाउ। तुलसी राम सनेह को जो फल सो जरि जाउ॥'* (दो० ९२)

ज्ञान और कर्मकाण्डमें साधन और सिद्धि पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं। अष्टांगयोग, साधनचतुष्टय, दान-पुण्य

आदि साधन करके लोग मोक्ष या स्वर्ग आदिकी प्राप्ति करते हैं। पर यहाँ वह बात नहीं। यहाँ तो *'जेहि जोनि जनमउँ कर्मबस तहँ रामपद अनुरागऊँ', 'जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन।'* (२०४), *'जेहि जेहि जोनि करमबस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईसु देहु यह हमहीं॥ सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नाथ यह ओर निबाहू॥'* (२४। ५-६) *'ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहिं भेदभगति बर लयऊ॥'* (आ० ९) *'खेलिबेको खग मृग तरु किंकर ह्वै राम रावरो रहिहौं। एहि नाते नरकहु सचु पैहौं या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौं'* (विनय)।

नोट—३ *'मोहि लखि परत'* का भाव कि मतका जानना बहुत दूर है। मुझे कुछ-कुछ ऐसा जान पड़ता है। (पु० रा० कु०)

नोट— ४ *'करिअ न सोचु सनेह बस''''' बिलखाइ'* इति। (क) भाव यह कि वे वही करेंगे जो श्रीरामजीकी आज्ञा होगी, अपनी ओरसे वे कुछ न करेंगे—यह 'रामरजाइ' का भाव है। और रामाज्ञाको कदापि न टालेंगे। जब उनका यह सिद्धान्त है, यथा—*'उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवकु लखि लाज लजाई॥'* (२६९।५) *'जो सेवक साहिबहि सकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥'* (२६८। ३), *'अग्या सम न सुसाहिब सेवा॥'* (३०१। ४) तब यह चिन्ता ही व्यर्थ है। (ख) 'सोच' इति। क्या सोच? वही जो श्रीकौसल्याजीका सोच था—*'मोरे सोच भरत कर भारी', 'रहे नीक मोहि लागत नाहीं',* कि न जानें कहीं वे प्राण न त्याग दें। यही सोच श्रीसुनयनाजीने चतुरतापूर्वक अपना सोच सूचित करके कहा था—ऐसा जान पड़ता है। यह 'सयानी' विशेषणकी सार्थकता है। भाव कि यदि यह डर होता कि आज्ञा न मानेंगे तो सोच करनेकी बात थी और तब यत्न भी करना जरूरी होता। पर वे आज्ञा मानेंगे। प्राण न छोड़ेंगे। (ग) *'बिलखाइ'* का अर्थ प्रायः टीकाकारोंने 'रोकर', 'दुःखसे' यही किया है। पर यहाँ दीनजीका मत है कि ऐसा अर्थ, अर्थ नहीं किन्तु अनर्थ करना है। राजा जनकका वहाँ रोना या विकल होना सम्भव नहीं। किंतु यहाँ इसमें यह दर्शित कर रहे हैं कि इनका ज्ञान कैसा प्रबल है? बात सब भी सुनयनाजी जानती हैं, याज्ञवल्क्यजीसे सुन चुकी हैं, फिर भी वे मोहमें पड़ जाती हैं और भरतको वन भेजने और लक्ष्मणजीको लौटानेकी चाह प्रकट करती हैं, पर ये दृढ़ हैं, इनको पूर्ण विश्वास है कि चरित सब वही होगा। अतः वे खूब समझाकर रानीसे कहते हैं कि डरो मत, वे वनको न जायँगे, न अपने मनकी करेंगे, उन्हींकी आज्ञा मानेंगे और वही करेंगे। सनन्दनसंहितामें यह श्लोक कहा जाता है—**'भरतस्य प्रशंसां च कृतवान् मिथिलापतिः। रामाज्ञापालकश्चिन्तां भरतो देवि मा कुरु॥'** अर्थात् भरतकी प्रशंसा करके राजाने कहा कि वे रामकी आज्ञा पालेंगे, तुम क्यों चिन्ता करती हो। यह दृढ़ता और ढाढ़सके वचन हैं।

☞ अभी श्रीजानकीजीके आगमनके अवसरपर उनको तपस्विनी वेषमें देखकर सपत्नीक श्रीजनकराज करुणार्द्र हो गये थे। उनके उस करुणा-स्नेहकी आलोचना करते हुए कवि कहते हैं— *'मोह मगन मति नहिं बिदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की॥'* उस करुणस्नेह अथवा करुण-वात्सल्यका उनके ज्ञानोज्ज्वल चित्तपर पूरा प्रभाव पड़ा हुआ है। श्रीजनकनन्दिनीके लौट जानेके बाद तुरंत ही अम्बा सुनयनाने भरतकुमारका प्रसंग छेड़ दिया। उसपर सप्रेम विचार करते हुए *'भरत रघुबरकी प्रीति प्रतीति'* का उस करुण-स्नेह-संस्कारसे भरे हुए मानससे एकान्त अनुभव करने लगे। यह सर्वथा सिद्ध है कि उनकी ब्रह्म-विवेकिनी-बुद्धिपर स्नेहका पूरा प्रभाव पड़ा हुआ है। उनकी विचारशक्ति प्रेमासक्त हो रही है। अस्तु। उसके फलस्वरूप उन्होंने यह कहा। अतः यहाँ 'बिलखाइ' का 'विह्वल होकर' ही अर्थ स्वाभाविक और सङ्गत है। 'विशेष लखकर' अर्थ अवश्य ही क्लिष्ट प्रतीत होता है।

पं०—श्रीरामजीके वियोगका विचार मनमें आनेसे दुःख हुआ। अथवा, यह जानकर दुःख हुआ कि व्यवहार ऐसा ही है, यह जीवों और ईश्वरोंपर अपना प्राबल्य दिखाता ही रहता है, इसीसे तो सनकादिकने इसका त्याग किया है।

वै०—विलख (रोकर) कहनेका भाव कि हमारा कुछ भी अख्तियार (अधिकार) या वश नहीं है।

रा० प्र०—भाव कि शोच करनेसे शोच ही भर हाथ लगेगा। बिलखानेका भाव स्वयं ही वे आगे कहेंगे—*'आए इहाँ कीन्ह भल नाहीं।'''''हम अब बन ते बनहि पठाई॥ प्रमुदित फिरब बिबेक बड़ाई।'* यह भविष्य सोचकर दुःखी हुए।

पु० रा० कु०—*'राम भरत गुन गनत सप्रीती। निसि'''''* ' इति। (क) भगवत्-भागवत गुणगान ऐसा ही है उसमें समय सुखपूर्वक बीत जाता है, जान नहीं पड़ता—*'पल सम होहिं न जनिअहि जाता।'* (२८०। ८) *'एहि प्रकार गत बासर सोऊ।'* (२७३। ३) (ख) गुप्त रीतिसे यह भी जनाया कि भगवत्-गुणगानसे भवरजनी पलमात्रमें बीत जाती है। (ग) यहाँ 'दंपति' सामान्य पद देनेका भाव कि स्त्री-पुरुषका साथ होनेसे वही रात भगवत्-भागवत-यशमें बीतना कठिन होता है। ☞ यह उपदेश है कि इनके यशमें प्रेम करो तो कामादिक विषय-वासनाएँ भी नष्ट हो जायँ। (घ) श्रीसुनयना-जनक-संवाद यहाँ समाप्त हुआ। *'कही समय सिर भरत गति रानि सुबानि सयानि।'* (२८७) *'सुनि भूपाल।'* उपक्रम है और *'राम भरत गुन'''''* ' उपसंहार।

श्रीभरतसम्बन्धी श्रीजनक-सुनयना-संवाद समाप्त।

चित्रकूट द्वितीय दरबार (की भूमिका)

श्रीराम-वसिष्ठ-संवाद

राज समाज प्रात जुग जागे। न्हाइ न्हाइ सुर पूजन लागे॥ २॥
गे नहाइ गुर पहिं रघुराई। बंदि चरन बोले रुख पाई॥ ३॥
नाथ भरतु पुरजन महतारीं। सोक बिकल बनबास दुखारीं॥ ४॥
सहित समाज राउ मिथिलेसू। बहुत दिवस भये सहत कलेसू॥ ५॥
उचित होइ सोइ कीजिअ नाथा। हित सब हीं कर रौरें हाथा॥ ६॥

अर्थ—दोनों राजसमाज प्रातःकाल जगे और नहा-नहाकर देवताओंकी पूजा करने लगे॥ २॥ श्रीरघुनाथजी स्नान करके गुरु वसिष्ठजीके पास गये और चरणोंकी वंदना करके उनका रुख पाकर बोले॥ ३॥ हे नाथ! भरत, अवधपुरवासी और माताएँ सब शोकसे व्याकुल और वनवाससे दुःखी हैं॥ ४॥ मिथिलापति राजाजनकको भी समाजसहित क्लेश सहते हुए बहुत दिन हो गये॥ ५॥ हे नाथ! सभाकी भलाई आपके हाथ है, अतः जो उचित हो वही कीजिये॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'न्हाइ न्हाइ सुर पूजन लागे।'* पुरवासियोंका नित्य-नियम जो पूर्व २७३ (३) से *'प्रेम मगन।'* (२७४) तक विस्तारसे कहा था वही यहाँ संक्षेपमें जना दिया। (ख) *'गे नहाइ'*—श्रीरामजी भी नित्य-प्रातःकृत्य करके गये। कहीं जाय तो नित्य-कर्मसे छुट्टी पाकर, न जाने फिर कैसा मौका पड़े। (ग)*'रुख पाई'*— प्रातःकाल ही गये इससे समझ गये कि कुछ कहना है, अतः तुरंत मुनिने पूछा।

टिप्पणी—२ *'नाथ भरतु पुरजन महतारीं। सोक'''''* ' इति। शोक नृपमरणका और वनमें कभी रहे नहीं अतएव दुःख हो रहा है। यह भी जनाया कि मुझे तो वनमें रहना ही है इससे मुझे दुःख नहीं। दूसरेके दुःखसे दुःखी हैं क्योंकि *'करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहिं पीर पराई॥'* (८५। २) राजाको भी क्लेश सहते बहुत दिन हो गये। इन वचनोंमें गुप्त भाव यह है कि हम लोग तो लौटेंगे नहीं, तब आप सब व्यर्थ क्यों कष्ट उठाते हैं। भूमिशयन, फलाहार, खुलेमें वृक्षोंतले रहना इत्यादि क्लेश है।

टिप्पणी—३ *'उचित होइ'''''हित सब हीं कर रौरें हाथा'* इति। अर्थात् भरत राज्य करें, माताएँ महलमें रहें, पुरजन घरोंमें रहें, प्रजाका पालन और पुरकी रक्षा हो यह रघुकुलका हित; राजा जनक पिता-सम हैं, मैं उनसे नहीं कह सकता कि जायँ और न कहनेसे लौटेंगे नहीं, जिससे वनके कष्ट बने रहेंगे, आपके कहनेसे उनका कष्ट भी दूर होगा। मेरा पिता-पुत्र-धर्म भी आपके हाथ है। देवता, मुनि, वनवासी, प्रेमी और निशाचर आदिका हित भी आपके हाथ है, इति *'सबही कर हित'।*

वि० त्रि०—*'उचित होइ''''सुभाऊ'* इति। जो बात सरकारने पहिले कही थी *'नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ। सब कर हित रुख राउरि राखे। आयसु किए मुदित फुर भाखे॥'* (२५८। २-३) वह बात मुनिजीको पसन्द न आयी थी, वे कहने लगे कि तुमने सत्य कहा, पर भरतके स्नेहके विचारको स्थान नहीं दिया। अब जनकजीके आनेसे परिस्थिति बदल गयी। अतः वही बात गुरुजीसे फिर कहनी पड़ी, इसलिये सरकार बहुत संकुचित हुए, पर मुनिजीको सरकारका शील-स्वभाव देखकर पुलक हो गया।

अस कहि अति सकुचे रघुराऊ। मुनि पुलके लखि सीलु सुभाऊ॥७॥
तुम्ह बिनु राम सकल सुखसाजा। नरक सरिस दुहुँ राजसमाजा॥८॥
दो०—प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम।
तुम्ह तजि तात सोहात गृह जिन्हहि तिन्हहि बिधि बाम॥ २९०॥

अर्थ—ऐसा कहकर श्रीरघुनाथजी अत्यन्त सकुचे। उनका शील-स्वभाव देखकर मुनि पुलकित हुए (प्रेम और आनन्दसे शरीर रोमाञ्चित हो गया और वे बोले)॥७॥ हे राम! तुम्हारे बिना घरबार आदि सम्पूर्ण सुखका सामान दोनों राज-समाजोंको नरकके समान है॥८॥ हे राम! तुम प्राणिमात्रके प्राणोंके भी प्राण हो, जीवके भी जीव और सुखके भी सुख हो। हे तात! तुमको छोड़कर जिन्हें घर भाता है उन्हें विधाता बाम है (उनपर विधाताको रूठे जानो)॥२९०॥

नोट—१ *'अस कहि अति सकुचे रघुराऊ।'''* इति। (क) 'सकुच' बड़ेसे बात कहनेमें कि जो एक प्रकार आज्ञा-सी जान पड़ती है और जिसमें दृढ़ हठ और धृष्टता दर्शित होती है कि हम तो कदापि न लौटेंगे, आप सबको ले जाइये। यथा—*'बहुत कहेउँ सब कियउँ ढिठाई। उचित होइ तस करिय गोसाँई॥'* (२४८।८) (ख) *'सीलु सुभाऊ'* यह कि भरत आदि सब स्नेही हैं यह न कहा कि जायँ, वियोगका शब्द सबको दुःखदायक होगा इससे केवल यही कहा कि कष्ट सहते हैं। हम मारे प्रेमके उनसे जानेको नहीं कह सकते, उनको दुःख होगा। आपके कहनेसे दुःख न मानेंगे। *'सील सनेह छाँड़ि नहिं जाई। असमंजस बस भे रघुराई॥'* (८५।५)

नोट—२ *'तुम्ह बिनु राम सकल सुखसाजा।''''''* इति। यह श्रीरामजीके *'बहुत दिवस भये सहत कलेसू'* और *'बनवास दुखारी'* का उत्तर है। *'नरक सरिस'* अर्थात् अत्यन्त दुःखदायक है। नरकमें प्राणीको बहुत दण्ड दिया जाता है। मिलान कीजिये—*'तन धन धाम धरनि पुरराजू। पति बिहीन सब सोकसमाजू॥ भोग रोग सम भूषन भारू। जमजातना सरिस संसारू॥ प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥'* (६५। ४—६), *'दुहुँ समाज असि रुचि मन माहीं। बिनु सिय राम फिरब भल नाहीं॥ सीताराम संग बनबासू। कोटि अमरपुर सरिस सुपासू॥ परिहरि लषन राम बैदेही। जेहि घर भाव बाम बिधि तेही॥'* (२८०। २—४) यही सब भाव यहाँ समझिये।

नोट—३ *'प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम''''''* इति। *'पूत परमप्रिय तुम्ह सबही के। प्रान प्रान के जीवन जीके॥'* (५६। ७), *'रामु प्रानप्रिय जीवन जी के।'* (७४। ६) और*'आनँदहू के आनँद दाता।'* (बा० २१७। २) देखिये। वही सब भाव यहाँ हैं। जैसे प्राण बिना शरीर मृतक वैसे ही तुम्हारे बिना प्राण मृतक है। जैसे बिना जीवके प्राण असमर्थ वैसे ही आपके बिना जीव असमर्थ। सुखके सुख हैं, क्योंकि आपके आनन्दके कणमात्रसे संसारमें सुख है, यथा—*'जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक्य सुपासी॥'* भाव कि प्राण सबको प्रिय है पर आप उससे भी अति प्रिय है। आपके बिना प्राण कोई रखना नहीं चाहता। *'राम प्रानहुँ ते प्रान तुम्हारे।'* (१६९। १) से मिलान कीजिये। आप सबके प्रकाशक हैं,यथा—*'बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥ सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥'* (१। ११७)

वै०—भाव कि जो देहबुद्धि किये हैं वे आपको स्वामी मानकर प्राणोंके प्राण जानकर सेवकभावसे

नवधा भक्ति करते हैं। जो अपनेमें जीवबुद्धि रखते हैं वे अपनेको आपका अंश मान प्रेमाभक्ति करते हैं, आपके रूपसिन्धुमें अपने मनको मीन बनाये हुए हैं और जो आत्मदृष्टिवाले हैं वे ब्रह्मानन्द सुखमें मग्न रहते हैं। आपको परब्रह्म जान पराभक्ति करते हैं, चित्तकी वृत्तिको आपमें लय किये रहते हैं।

नोट—४ *'तुम्ह तजि तात सोहात गृह.....'* इसके जोड़की चौपाई यह है—*'दाहिन दैउ होइ जब सबहीं। राम समीप बसिय बन तबहीं॥'* (२८०। ५) यहाँ *'तुम्ह तजि तात'* और वहाँ *'राम समीप'* यहाँ *'सोहात गृह'* वहाँ *'बसिय बन तबहीं'*, यहाँ *'बिधि बाम'* वहाँ *'दाहिन दैउ होइ जब।'*

सो सुखु करम धरमु जरि जाऊ। जहँ न राम-पद-पंकज भाऊ॥ १॥
जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम पेम परधानू॥ २॥
तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह ते हीं। तुम्ह जानहुँ जियँ जो जेहि केहीं॥ ३॥
राउर आयसु सिर सबही कें। बिदित कृपालहिं गति सब नीके॥ ४॥
आपु आश्रमहिं धारिअँ पाऊ। भयेउ सनेह सिथिल मुनिराऊ॥ ५॥

शब्दार्थ—**परधान**=प्रधान। जेहि केहि=जिस किसीके=जिसके निश्चय ही। **गति**=अवस्था, हालत, यथा—*'भइ गति साँप छछुंदरि केरी।'* =दौड़, विधान, लीला।

अर्थ—वह सुख, कर्म और धर्म जल जाय (अर्थात् सब व्यर्थ हैं) जिसमें राम-चरणकमलमें प्रेम नहीं है॥ १॥ वह योग कुयोग है और वह ज्ञान अज्ञान है जिसमें रामप्रेम प्रधान न हो॥ २॥ सब तुम्हारे बिना ही दुःखी हैं और तुमसे ही सुखी हैं। जिस किसीके जीमें जो है वह तुम जानते हो॥ ३॥ आपकी आज्ञा सभीके सिरपर है (सबको मान्य है, सब शिरोधार्य करते हैं)। हे कृपालु! आपको सबकी अवस्था भली प्रकार मालूम है॥ ४॥ आप आश्रमको पधारें—(यह कहकर) मुनिराज स्नेहसे शिथिल हो गये (फिर कुछ बोल न सके)॥ ५॥

नोट—१ *'सो सुखु करम धरमु.....'* इति। भाव कि बिना श्रीरामप्रेमके ये सब व्यर्थ हैं। यथा—*'जो अनुराग न राम सनेही सों। तौ लह्यो लाहु कहा नर देही सों॥ जो तनु धरि परिहरि सब सुख भए सुमति राम अनुरागी। सो तनु पाइ अघाइ किए अब अवगुन अधम अभागी॥ ज्ञान बिराग जोग जप तप मख जग मुद मग नहिं थोरे। राम प्रेम बिनु नेम जाय जैसे मृगजल जलधिहिलोरे॥'* (विनय० १९४), *'भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना सब ब्यंजन जैसे। भजन हीन सुख कवने काजा॥'* (७। ८४। ५-६) पुनः, यथा—**'धिग्जन्मनस्त्रिवृद्विद्यां धिग्व्रतं धिग्बहुज्ञताम्। धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे॥'** (भागवत १०। २३। ३९)

नोट—२ रावण, हिरण्यकशिपु आदिका सुख गया, धृतराष्ट्रका कर्म गया और राजा नृगका धर्म गया। वे गिरगिट हुए—(पु० रा० कु०)।

नोट—३ (क) *'तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह तेहीं.....'*, यथा—*'एहि सुख नरकहु सचु पैहौं या बिनु परम पदहु दुख दहिहौं।'* (विनय०) (ख) *'तुम्ह जानहुँ जियँ जो जेहि केहीं'*—अर्थात् आप अन्तर्यामी हैं। सब और सबके हृदयकी जानते ही हैं कि सब आपके नित्य दर्शन और साथमें ही सुख मानते हैं, आपके बिना सब दुःखी रहते हैं। मैं कुछ बनाकर नहीं कहता हूँ। यहाँतक *'बनबास दुखारी'* और *'सहत कलेसू'* का उत्तर है।

नोट-४ पाँड़ेजीका मत है कि *'सो सुखु करम धरमु'* यह भरतसमाजके लिये कहा गया और *'जोगु कुजोगु.....'* यह जनकसमाजके लिये, क्योंकि यह समाज योगियों, ज्ञानियोंका है। *'तुम्ह बिनु दुखी.....'* का भाव यह कि जो तुम्हारे बिना दुःखी रहते हैं वे तुम्हींको पाकर सुखी होते हैं, अन्य किसी प्रकारसे सुख नहीं मानते।

नोट—५ *'राउर आयसु सिर सबही कें.....'* इति। (क) सब किसमें सुख मानते हैं यह कहा। इससे

यह लक्षित होता है कि वे लौटेंगे नहीं। अतएव कहते हैं कि यह हमारा आशय नहीं है। इतनेपर भी सब आपकी ही आज्ञा शिरोधार्य करेंगे, साथ रहनेका हठ कोई न करेगा। *'सबकी गति'* —वही जो ऊपर कहा है *'तुम्ह बिनु राम सकल सुखसाजा।'''''* इत्यादि। उसीके कारण वे चाहते हैं कि आप लौटें। आप कृपालु हैं, उनके कष्टको दया करके दूर करें। (ख) श्रीरामजीके *'हित सबही कर रौरें हाथा',* इन वचनोंका यह उत्तर है अर्थात् हमारे हाथ नहीं है, आपके हाथ है आपकी आज्ञापर, सबका हित निर्भर है। (प्र० सं०)

☞रघुनाथजीके कहनेका यह भाव था कि अब जनकराज आ गये हैं अब भरतकी बात नहीं है। भरत तो छोटे थे। अब आप आज्ञा दीजिये क्योंकि आप जनकजीसे भी बड़े हैं। इसपर वसिष्ठजी कहते हैं कि आपकी आज्ञा सबके ऊपर है, मैं भी उसे ऐसा ही मानता हूँ, अब मैंने रुख समझ लिया, जो आप चाहते हैं सब ठीक हो जायगा। अब आप आश्रमको जायँ। (वि० त्रि०)

नोट—६ *'आपु आश्रमहिं धारिअ पाऊ'''* इति। (क)—इतना ही कह पाये। आगे इतना और कहते हैं कि मैं इसका उपाय करता हूँ; पर प्रेम उमड़ आया इससे न कह सके। शीलस्वभाव और माधुर्यमें आज्ञा आदिका ध्यान आ गया। इससे प्रेमसे शिथिल हो गये। टीकाकारोंका मत है कि वियोगके विचारसे शिथिल हो गये। मेरी समझमें यहाँ 'शील-स्वभाव' प्रधान कारण है, इसका प्रभाव ऐसा पड़ा कि जनकजीसे जाकर इन्होंने प्रथम उसीकी प्रशंसा की। (ख) *'मुनि पुलके लखि सील सुभाऊ'* उपक्रम है और *'भयेउ सनेह सिथिल मुनिराऊ'* उपसंहार।

* वसिष्ठ-जनक-गोष्ठी *

करि प्रनामु तब रामु सिधाये। [रिषि धरि धीर जनक पहिं आये॥ ६॥
रामबचन गुरु नृपहिं सुनाये]* । सील सनेह सुभाय सुहाये॥ ७॥
महाराज अब कीजिअ सोई। सब कर धरम सहित हित होई॥ ८॥
दो०—ज्ञाननिधान सुजान सुचि धरम धीर नरपाल।
तुम्ह बिनु असमंजस समन को समरथ एहि काल॥ २९१॥

अर्थ—तब श्रीरामचन्द्रजी प्रणाम करके चल दिये। ऋषि वसिष्ठजी धीरज धरकर जनकजीके पास आये॥ ६॥ गुरुजीने श्रीरामचन्द्रजीके शील और स्नेहयुक्त सहज ही सुन्दर वचन राजाको सुनाये और कहा॥ ७॥ हे महाराज! अब वही कीजिये, जिसमें सबका धर्मसहित भला हो। अर्थात् सबका धर्म भी बना रहे और सबको भला भी लगे॥ ८॥ राजन्! आप ऐसे ज्ञान-समुद्र, सुजान, पवित्र धर्मवाले, धैर्यवान् और मनुष्योंके पालन करनेवालेके सिवा इस समय और कौन दुविधाके मिटानेको समर्थ है? (कोई भी नहीं)॥ २९१॥

नोट—१ (क) *'रिषि धरि धीर।'* पूर्व शिथिल होना कहा था, यथा—*'भयेउ सनेह सिथिल मुनिराऊ';* अतः धीरज धरना कहकर तब जाना कहा। (ख) *'सील सनेह सुभाय सुहाये'।* श्रीरामजीके शीलस्वभावका कैसा प्रभाव मुनिपर पड़ा है यह यहाँ प्रकट है। उनके चित्तको उसने इतना आकर्षित कर लिया है कि उनसे रहा न गया, आकर राजासे कहा। जैसे सुमन्त्रजीसे न रहा गया और उन्होंने आकर राजासे कहा था—*'लखन कहे कछु बचन कठोरा। बरजि राम पुनि मोहि निहोरा॥'* १५२ (७) देखिये।

नोट—२ *'धरम सहित हित'* अर्थात् श्रीराम-भरत-प्रजा सबका धर्म भी बना रहे और सबका भला भी हो। धर्मरहित हित न चाहिये। यदि किसीका भी धर्म नष्ट होकर दूसरेका हित हुआ तो वह हित, हित

* कोष्ठकान्तर्गत दो चरण राजापुरकी प्रतिमें नहीं हैं।

नहीं है। पंजाबीजी कहते हैं कि गुरुजीके कहनेका भाव यह है कि श्रीरामचन्द्रजी और भरतजीको पिताकी आज्ञा-पालन धर्म है, प्रजाको श्रीरामजीका आज्ञा मानना धर्म है। रावणवधसे जगत्‌का धर्म और हित है और श्रीरामजीके हाथोंसे मरणमें रावणका धर्म और हित है। जिसमें यह सब बने वह कीजिये।

* 'ज्ञाननिधान सुजान सुचि धरम धीर नरपाल'''।'*

पु० रा० कु०—प्रथम कहा *'सब कर धरम सहित हित होई।'* अब उसी कार्यसे सम्बन्धित विशेषण देते हैं। *'धर्मसहित हित हो'* ऐसा करनेमें ज्ञान आदि चाहिये सो आप ज्ञाननिधान हैं, चतुर हैं, नीतिमें निपुण हैं। पवित्र भगवत्, भागवत, धर्मका जाननेवाला ही सबके धर्मका खयाल रख सकता है सो आप शुचि धर्मवाले हैं। आर्त्त या द्विचित्तका विचार ठीक नहीं हो सकता, वह विचार कर ही नहीं सकता, आप 'धीर' हैं और मैं तो स्नेहसे शिथिल हूँ; इससे आपका विचार उत्तम होगा। आप ऐसे धीर हैं कि जानकी-विवाहमें कितने विघ्न उपस्थित हुए तो भी आपने अपना धर्म, अपनी प्रतिज्ञा, अपना धैर्य न छोड़ा। नृपाल हैं, प्रजापालनका भी यहाँ प्रश्न है, प्रजाका दुःख दूर हो; यह वही राजा सोच सकता है जो प्रजाका पालक हो। आप सर्वगुणसम्पन्न हैं। अतएव आप ही इस गुत्थीको सुलझा सकते हैं, दूसरा नहीं।

'तुम्ह बिनु को समरथ' से यह भी जना दिया कि हमने उपाय किया था पर उससे न मिटा। क्या उपाय किया था? यह कि *'तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिअहि सीय लखन रघुराई॥'* इस सिद्धान्तमें हमने सबका हित पाया, सबके धर्मकी रक्षा देखी और यही बात भरतजीने श्रीरामजीसे कही भी। परंतु श्रीरामजीने उसको प्रमाणित न किया। अतएव अब कोई और उपाय सोचिये जिसमें सबका हित हो और सबका धर्म रहे।

सुनि मुनि बचन जनक अनुरागे। लखि गति ग्यानु बिरागु बिरागे॥ १॥
सिथिल सनेह गुनत मन माहीं। आए इहाँ कीन्ह भल नाहीं॥ २॥
रामहिं राय कहेउ बन जाना। कीन्ह आपु प्रिय प्रेम प्रवाना॥ ३॥
हम अब बन ते बनहिं पठाई। प्रमुदित फिरब बिबेक बड़ाई*॥ ४॥
तापस मुनि महिसुर सुनि देखी। भये प्रेम बस बिकल बिसेषी॥ ५॥
समउ समुझि धरि धीरजु राजा। चले भरत पहिं सहित समाजा॥ ६॥

अर्थ—मुनिके वचन सुनकर राजा जनक (सांसारिक सम्बन्धसे) प्रेममें मग्न हो गये। उनकी दशा देखकर ज्ञान और वैराग्यको भी वैराग्य हो गया (अर्थात् उनका ज्ञान और वैराग्य जाता रहा)॥ १॥ वे प्रेमसे शिथिल हैं, तथा मनमें विचार कर रहे हैं कि यहाँ मैं आया यह अच्छा नहीं किया (अर्थात् बुरा किया)॥ २॥ राजा-(दशरथ-) ने श्रीरामजीको वन जानेको कहा और स्वयं अपने प्रियके प्रेमको सत्य कर दिया॥ ३॥ परन्तु हम अब वनसे वनको भेजकर ज्ञानकी बड़ाईसहित बड़े आनन्दसे लौटेंगे (अर्थात् लोग कहेंगे और हमें भी अपने विवेककी बड़ाईका अभिमान होगा कि हम-सा कोई विवेकी नहीं, कि किञ्चित् मोह-ममता नहीं)॥ ४॥ तपस्वी, मुनि एवं ब्राह्मण यह सब सुन और देखकर प्रेमवश बहुत व्याकुल हुए॥ ५॥ समयको समझ (विचार) कर धीरज धरकर राजा समाजसहित भरतजीके पास चले॥ ६॥

नोट—१ *'लखि गति ग्यानु बिरागु बिरागे'* इति। राजा जब ब्रह्म रामके भावको छोड़ सांसारिक भावसे देखते हुए, अपने जामाताके शील-स्नेह और सद्भावमें अनुरक्त हो गये तो यह गति देखकर ज्ञान-वैराग्यको विरक्ति हो गयी। अर्थात् केवल जामाता रामके भावमें ऐसे डूबे कि ज्ञान-वैराग्यका विचार न रहा।

गौड़जी—श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें सांसारिक सम्बन्धसे भी जब-जब जनकजी प्रेम-विह्वल होते हैं तब

---

* बड़ाई—भा० दा०। कुछ लोगोंका मत है कि 'बड़ाई' में श्लेषद्वारा दूसरा अर्थ 'खोकर, गँवाकर, बुझाकर' भी निकलता है।

ज्ञान-वैराग्य बराबर जवाब दे जाते हैं। कारण यह है कि यद्यपि भगवान् सगुणरूप धारण किये हुए हैं तथापि जनकजीकी जैसी उपासना है, उसके अनुसार प्रेम-विह्वल जब-जब होते हैं तब-तब वह सर्वातीत ब्रह्मानन्द मिलता है, जो ज्ञान-वैराग्य आदि सबसे परे है। इसीलिये ये दोनों ऐसी दशामें बहुत दूर छूट जाते हैं। राममें ही रह जाते हैं।

वि० त्रि०—रामानुरागका दर्जा ज्ञान-विरागसे बढ़ा हुआ है। जनकजीका अनुराग देखकर, ज्ञान-विरागको भी विराग हो गया कि अब हम यहाँ नहीं रहेंगे, अब अनुराग ही यहाँ रहे, क्योंकि काम आ पड़नेपर जनकजी अनुरागका ही सम्मान करते हैं। वे हृदयसे अनुरागी हैं, यथा—'*जाहि राम पद गूढ़ सनेहू।*'

नोट—२ '*प्रमुदित फिरब बिबेक बड़ाई*' इति। राजा अपने ज्ञानको धिक्कार रहे हैं। सोचते हैं कि चक्रवर्ती महाराजने तो प्रेमको सत्य कर दिखाया कि बिछुड़ते ही प्राण दे दिये और हम इनको वनसे और भी वनमें ही भेजने आये हैं। मैं न साथ जाऊँगा न प्राण ही छोड़ूँगा। यह किसी प्रेमीसे तो हो नहीं सकता, ज्ञानी, योगी ही जिसमें प्रेम छू नहीं गया, वही कठोर-हृदय प्राणी ऐसा कर सकता है। लोक यही कहेगा कि इनमें क्या आश्चर्य है जो ये वन भेजनेको ही आये। आखिर हैं तो पूर्ण विवेकी न! इनको शोक वा ग्लानि क्यों होने लगी? ऐसी ही जनकपुरवासियोंने बारातकी बिदाईके समय उनके प्रति कहा ही था, यथा—'*कोउ कह चलन चहतहहिं आजू। कीन्ह बिदेह बिदा कर साजू॥*' (१।३३५)

पु० रा० कु०—वनसे वनको भेजना कहकर जनाया कि श्रीरामजी लौटेंगे नहीं। वे पिताका वचन पूरा करेंगे। अतः, यहाँ आकर चाहिये था कि हमारा भी शरीर छूट जाय पर ऐसा होगा नहीं वरन् उलटे हम प्रमुदित होकर जनकपुर लौटेंगे, यह हमारे विवेककी बड़ाई है! कहनेको होगा कि दशरथजीने प्रेम निबाहा और जनकने ज्ञान निबाहा। यह व्यङ्ग है। भाव यह कि ऐसे विवेकको धिक्कार है। संयोग-वियोग आदि मोहमूलक हैं यह जानना विवेक है।

नोट—३ '*तापस मुनि महिसुर सुनि देखी*' इति। '*सिथिल सनेह गुनत मन माहीं*' प्रथम कहा और आगे कहते हैं कि '*तापस मुनि महिसुर सुनि देखी*'। बीचमें कहीं बोलना या कहना पाया नहीं जाता। '*सुनि*' से पूर्व कहनेका अध्याहार करना पड़ेगा। पर कहाँपर ? पं० रामकुमारजी कहते हैं कि प्रथम मनमें विचार करने लगे कि क्या होना चाहिये। सोचते-सोचते यही निश्चय किया कि श्रीरामजी पिताकी आज्ञा पाल रहे हैं, परम धर्मपर आरूढ़ हैं। इस धर्मसे उनको हटाना सर्वथा अनुचित है, इत्यादि विचारसे निर्णय करनेपर उनके मुखसे यह शब्द निकले कि '*आए इहाँ*……' इत्यादि।

मेरी समझमें यह बात मनमें ही सोची कि 'आकर अच्छा न किया'। '*सिथिल सनेह*' कहकर मनमें गुनना कहा है। उसी दशामें विह्वल होकर यह कहना भी हो सकता है कि '*रामहिं राय कहेउ बन जाना*……' इत्यादि (आगे '*समउ समुझि धरि धीरज राजा*' यह कहते हैं इससे विह्वल दशामें संदेह नहीं। मयङ्ककारका भी यही मत है कि राजाने '*रामहिं राय कहेउ*……' ये वचन कहकर मानो प्रेमका संदूक खोल दिया।

यदि श्रीजनकजीका बोलना न निश्चय करें तो '*सुनि*' से वसिष्ठजीके वचनोंका सुनना लेंगे और देखना राजाकी स्नेह-शिथिल दशाका।

नोट—४ '*भए प्रेम बस बिकल बिसेषी*' इति। व्याकुलता यह समझकर हुई कि ऐसे बड़े ज्ञानेश्वर योगेश्वर भी प्रेमके बिना अपने जीवनको व्यर्थ समझ रहे हैं।

नोट—५ '*समउ समुझि धरि धीरज।*……' इति। (क) यह धर्मसंकटका समय है, यदि धीरज नहीं रखते तो इससे उबरना असम्भव होगा, अब कहे बिना बनता नहीं। (ख) भरतजीके पास जानेका भाव यह है कि उन्होंने मनमें विचारा कि भरत पितृदत्तराज्य करते और राम वनवास करते तो असामञ्जस्य मिट जाता; पर इन्होंने राज्य न ग्रहण किया। और कोई उपाय समझ नहीं पड़ता। भरतके ही पास चलें वे ही इस अवरेवको मिटायेंगे। (ग) पं०—'समय समझकर' यह कि यह शोकका समय नहीं है। हमें

देख सब अधीर हो जायँगे, वा, यह कि यहाँ बहुत काल रहना उचित नहीं, भरतको आगे कार्य करना है और रामको भी; अतः भरतसे सलाह करना आवश्यक है, इससे उनके पास चलें। वा, अपने और भरतके अवकाशका समय जानकर। (पं०)

भरत-जनक-गोष्ठी

भरत आइ आगें भइ लीन्हे। अवसर सरिस सुआसन दीन्हे॥७॥
तात भरत कह तेरहुतिराऊ। तुम्हहिं बिदित रघुबीर सुभाऊ॥८॥
दो०—राम सत्यब्रत धरमरत सब कर सीलु सनेहु।
संकट सहत सकोच बस कहिअ जो आयसु देहु॥२९२॥

शब्दार्थ—'*आगें भइ लीन्हे*'=आगे होकर लिया, अगवानी की, स्वागत किया। यथा—'*आगे होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंघासन आसन देई॥*' (९८।४) 'आयसु'=अनुमति।

अर्थ—श्रीभरतजीने आकर आगेसे उनको लिया अर्थात् उनका स्वागत किया। समयके अनुकूल जैसा कुछ आपत्तिमें, शोकमें और वनमें हो सकता था उनको उत्तम आसन दिये॥७॥ तिरहुतराज कहते हैं—हे तात भरत! तुमको रघुवीर श्रीरामजीका स्वभाव तो मालूम ही है॥८॥ श्रीरामचन्द्रजी सत्यप्रतिज्ञ और धर्मपरायण हैं, सबके शील और स्नेहका निर्वाह करते हैं। सबके संकोचके वश वे कष्ट सह रहे हैं। अब तुम जो '*आयसु*' दो वह उनसे कहा जाय॥२९२॥

नोट—१ '*भरत आइ*⋯' इति। (क) बड़ोंको आगे जाकर लेना यह सनातन शिष्टाचार है। यथा—'*भाइ सचिव गुर पुरजन साथा। आगे गवनु कीन्ह रघुनाथा॥*' (२७५।१) (श्रीजनकजीकी अगवानीके लिये), विश्वामित्रजीके आगमनपर राजा दशरथ और राजा जनक आगे आकर मिले। रघुनाथजीका आगमन सुनकर निषादराज '*मिलन चलेउ हिय हरष अपारा*' इत्यादि। (ख) '*अवसर सरिस सुआसन*⋯' इति। '*आसन दिये समय सम आनी।*' (२८१।४) देखिये।

* राम सत्यब्रत धरमरत सब कर सीलु सनेहु *

इन सब विशेषणोंके भाव पूर्व आ चुके हैं। पहले कहा कि तुम रघुवीरका स्वभाव जानते हो। यथा—'*मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ।*' (२६०।५) क्या स्वभाव जानते हैं यह दोहेमें कहा। '*संकट सहत सकोच बस*' अर्थात् न यह कह सकें कि जाओ और न दूसरोंका क्लेश देख सकें। संकट यह कि '*सानुज भरत सचिव सब माता। देखि मोहि पल जिमि जुग जाता॥*' (२४८।६) दूसरे पिताकी आज्ञा '*विशेष उदासी*' रहनेकी है; इससे सबके साथ रहनेमें संकोच है। तात्पर्य यह कि संकोच छोड़ यदि आज्ञा दे दें कि जाओ, हम न लौटेंगे, तो शील और स्नेहमें त्रुटि आती है। शील-स्नेह भी बना रहे और ये चले जायँ कहना न पड़े; दोनोंका निर्वाह कठिन है, अतः संकट सहते हैं।

इन शब्दोंमें ध्वनि यह है कि यह संकट तुम ही मिटा सकते हो। उनको एकान्त वनवास करने दो और तुम सब लोग लौट जाओ। यह सिद्धान्त जनक महाराजका है, यथा—'*अब हम बन ते बनहि पठाई।*⋯' '*आयसु*' का अर्थ आज्ञा है। पर आज्ञा शब्दमें सन्देह होता है कि आज्ञा तो बड़ा देता है न कि छोटा। 'स्वाभिप्राय' अर्थ यहाँ लेनेसे शंका नहीं रहती।

गौड़जी—'*आयसु*' शब्द संस्कृतके 'आदेश' का प्राकृत रूप है। और स्थलोंमें आज्ञाके अर्थमें आया है जो आदेशका मुख्यार्थ है। परंतु आदेशके और कई अर्थ हैं, जैसे अनुमति, सलाह, हिदायत, इवज, घटना और परिणाम। यहाँ अनुमति या हिदायत ही इष्टार्थ है, आज्ञा नहीं। परंतु भरतकी महामहिमासे प्रभावान्वित हो जनक '*आयसु*' शब्दका प्रयोग करके सम्मानार्थक वचन भी कहते हैं।

सुनि तन पुलकि नयन भरि बारी। बोले भरतु धीर धरि भारी॥ १॥
प्रभु प्रिय पूज्य पिता सम आपू। कुलगुरु सम हित माय न बापू॥ २॥
कौसिकादि मुनि सचिव समाजू। ग्यान अंबुनिधि आपुनु आजू॥ ३॥
सिसु सेवकु आयसु अनुगामी। जानि मोहि सिख देइअ स्वामी॥ ४॥
एहि समाज थल बूझब राउर। मौन मलिन मैं बोलब बाउर॥ ५॥
छोटे बदन कहौं बड़ि बाता। छमब तात लखि बाम बिधाता॥ ६॥

अर्थ—यह सुनकर शरीरसे पुलकित होकर और नेत्रोंमें जल भरे हुए भरतजी भारी धीरज धरकर बोले॥ १॥ हे प्रभो! आप समर्थ हैं और पूज्य पिताके समान हमारे प्रिय और पूज्य हैं। और कुलगुरु वसिष्ठजीके समान हितकारी माता-पिता भी नहीं हैं * ॥ २॥ विश्वामित्र आदि मुनियों और मन्त्रियोंका यह समाज है, उसमें भी आज ज्ञानके समुद्र आप भी मौजूद हैं॥ ३॥ शिशु, सेवक और आज्ञापर चलनेवाला जानकर हे स्वामिन्! मुझे शिक्षा दीजिये॥ ४॥ (कहाँ तो पूज्य गुरुओं और ज्ञानियोंका) यह समाज और (चित्रकूट पुण्य) स्थल और आपका मुझसे पूछना और (कहाँ) मैं मौन (अर्थात् मेरा मौन ही रहना उचित है) मलिन और मेरा पागलोंका-सा बोलना॥ ५॥ छोटे मुँह बड़ी बात कहता हूँ। हे तात! विधाताको रूठा जानकर क्षमा कीजियेगा॥ ६॥

नोट—१ '*सुनि तन पुलकि*⋯' इति। श्रीजनकजीके वचनोंमें यह भाव स्पष्ट झलकता है कि श्रीरामजी

---

* यहाँ 'प्रभु प्रिय पूज्य पिता सम आपू' राजा जनकके लिये कहा और फिर आगे 'ग्यान अंबुनिधि आपुनु आजू' भी उन्हींके लिये कहा है। इसमें कुछ लोगोंने पुनरुक्तिके भयसे प्रभुसे रामजीका अर्थ लिया है। बैजनाथजीने 'प्रभु प्रिय⋯' यह पूरी अर्धाली जनकजीमें ही लगायी है। और कुछने 'प्रभु' से रामजीका और 'आपू' से जनकजीका अर्थ लिया है।

रा० प्र० कार लिखते हैं कि यहाँ पुनरुक्ति नहीं है। भरतजीने प्रथम जनकजीको सम्बोधन किया और उनके पीछे वसिष्ठजीको, इससे वसिष्ठजीकी अधिक बड़ाई करके इस कमीको उन्होंने पूरी की। राजाको पितासम कहा पर प्रथम कहा, वसिष्ठजीको माता-पिता दोनोंसे बड़ा कहा। पुनः, प्रथम राजाको गुरुसे यहाँ कम दिखाया, उसी कमीकी पूर्ति करनेके लिये उन्होंने उनको यहाँ 'ग्यान अंबुनिधि' बड़ा विशेषण देकर पुनः कहा। यह अर्थ करनेमें कि 'आप ही रघुनाथजी हमारे प्रिय पूज्य पिताके समान हैं, यह दोष आता है कि आगे गुरुको जो विशेषण दिये उनसे प्रभुमें न्यूनता आती है। इससे यह अर्थ खींच-खाँच है।

☞ इस समाजमें वसिष्ठजी, जनकजी, विश्वामित्रजी आदि उपस्थित हैं, श्रीरामजी यहाँ नहीं हैं। यहाँ इसी समाजको सम्बोधन करते हुए श्रीभरतजी कहते हैं 'जानि मोहि सिख देइअ स्वामी'। तीन अर्धालियोंकी क्रिया यहाँ दी गयी है। 'सिख दीजिये' यह उसीसे कहा जायगा जो सामने होगा न कि परोक्ष। प्रथम 'प्रभु' पद दिया, वैसे ही अन्तमें 'स्वामी' पद दिया है। दोनों सम्बोधन हैं और साथ ही उनका समर्थ और अपना असमर्थ होना, एवं उनका आज्ञाकर्त्ता और अपना अनुगामी होना जनाया है। जनकजी ही इस समाजके अगुआ हैं। उन्होंने भरतजीको सम्बोधन किया था। इसीसे उन्हींको प्रथम सम्बोधन करना आवश्यक है, यही शिष्टाचार है। इसीसे उनको प्रथम कहा। इसमें किसीकी न्यूनता नहीं। अपनेको शिशु कहेंगे इससे राजामें और गुरुमें पिता और माताका भाव प्रथम कहा। यह स्मरण रहे कि यहाँ अवधमें मन्त्रियोंका समाज नहीं है। जनकजीकी सभामें वसिष्ठजी ही गये थे—'रिषि धरि धीर जनक पहिं आए'। और जनकजी अपने समाजको लिये हुए भरतजीके पास आये हैं। अवधसमाजका यहाँ काम भी न था, वे तो कुछ उपाय सोच ही न सके। यह नया समाज है और इसमें नीतिज्ञ राजा भी मौजूद हैं। अतएव, मेरी समझमें राजाको सम्बोधन करके और गुरुकी प्रशंसा करके तब उन्होंने जनकजीसे कहा कि आज जो यह समाज जुटा है वह सब ज्ञानियोंका समाज है और आप ज्ञानिशिरोमणि हैं, इससे बढ़कर क्या है?—आप सब विचारकर आज्ञा दें वही मैं करूँ। ज्ञानिसमाजके साथ ज्ञानि-अम्बुनिधि कहा और कुलगुरुके साथ पितासम कहा। पहले नातेसे शिशु, दूसरे नातेसे सेवक कहा।

सत्यसन्ध धर्मधुरन्धर हैं, उनको संकोचमें डालना उचित नहीं, उन्हें धर्मका पालन करने दो। तुम्हारे शील, स्नेह और संकोचके कारण ही वे कष्ट सह रहे हैं। श्रीभरतजी प्रभुका अपने ऊपर प्रेम देख चुके ही थे—*'पिता बचन मेटत मन सोचू। तेहि ते अधिक तुम्हार सँकोचू॥'* अब वही राजाके मुखसे भी सुना, इससे प्रेम उमड़ आया। पूर्व भी जब रघुनाथजीके कहनेपर कि *'भरत कहहिं सोइ किए भलाई'* गुरुने उनसे कहा कि अब अपने मनकी प्रभुसे कह लो, जो कहोगे वही वे करनेको तैयार हैं तब *'लखि अपने सिर सब छरुभारू। कहि न सकहिं कछु करहिं बिचारू॥ पुलक सरीर सभा भए ठाढ़े। नीरज नयन नेह जल बाढ़े॥'* (२६०। २-३) वे सब भाव यहाँ भी हैं। और, उनके साथ ही अब वियोग भी निकट देख पड़ा, इससे यहाँ अधिक शिथिल हो गये। इसीसे 'भारी धीरज' धरना पड़ा।

* 'प्रभु प्रिय पूज्य पिता सम आपू।......' *

भाव यह कि पिता, माता, गुरु जो आज्ञा बालकको दें वही उसका कर्तव्य है। माता-पिता-गुरुको बालक आज्ञा नहीं देता। यह राजाके *'कहिय जो आयसु देहु'* का उत्तर है। यहाँ पिताके स्थानपर आप हैं, आप श्वशुर हैं, पूज्य और प्रिय हैं। गुरु वसिष्ठजी, माता और पिता दोनोंसे बढ़कर हितकर हैं और कुलगुरु भी हैं, कुलभरका हित बराबर करते आये हैं, यथा—*'दलि दुख सजइ सकल कल्याना। अस असीस राउरि जग जाना॥'* (२५५। ७) गुरु, पिता और माता तीनोंके विद्यमान होते हुए मुझसे *'आयसु देहु'* यह कहना सर्वथा अनुचित है।

इससे यह भी जनाया कि आप दोनों जो आज्ञा श्रीरामजीको देंगे, उसे वे भी न टालेंगे। रहा, आप आज्ञा नहीं देना चाहते और संकोच मिटानेका उपाय पूछते हैं तो कौशिक आदि मुनीश्वर इस समाजमें आज आ पधारे हैं,(कौशिकजी राजा भी थे और अपने तपोबलसे ब्रह्मर्षि एवं दूसरे विधाता हैं, इत्यादि। इसीसे इनको इस समाजमें आदि स्थान दिया); और, आप भी उपस्थित हैं जो ज्ञानके समुद्र ही हैं। 'आजू' का भाव कि पूर्व समाजमें आप और कौशिकजी न थे, हमारे भाग्यसे इस असमंजसको दूर करनेके लिये ही आप सबका आगमन हुआ है। अपने कुलगुरुने तो भार मेरे ही सिर डाल दिया। मैं क्या कहता? मुझमें नीति और विचार नहीं। अब आप सब मुझे शिक्षा दें, वही मैं करूँ। मैं शिशु हूँ अर्थात् बालकके समान अबोध, अज्ञानी और असमर्थ हूँ। बच्चा माता-पिताके ही सहारे रहता है, यथा—*'सेवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे॥'* (४। ३) पुनः 'सेवक हूँ' अर्थात् सेवक वही है, जो सेवा करे, यथा—*'सेवक सोइ जो करइ सेवकाई'* और आज्ञा-पालनसे बढ़कर सेवा नहीं, यथा—*'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा'* दोनों प्रकारसे मैं आप सबकी आज्ञा और शिक्षाका ही अधिकारी हूँ, आज्ञा देनेका नहीं; अतएव मुझे जैसा सिखाइये वैसा करूँ।

नोट-२ *'सिसु सेवकु'* का भाव कि प्रौढ़ सेवक अपनेसे भी कह और कर सकता है, पर बालक सेवक वही कर सकता है जो स्वामी उससे कहे, अपनेसे वह कुछ कह या कर नहीं सकता। (पां०) अथवा, 'इस भाँति व्यतिरेक कर लें कि आप मुझे शिशु जानकर, गुरु और कौशिकादि सेवक जानकर और सुमन्त आदि मन्त्री आज्ञानुसारी जानकर सिखावन देवें।' (पं०)

* 'एहि समाज थल बूझब राउर। मौन मलिन......' *

पां०—भाव कि यह समाज बड़ा, यह पुण्यस्थल बड़ा और आपका पूछना बड़ा—ये तीनों बातें उत्तम और मैं मौन (गूँगा), मनका मलिन और बावली बातें बोलनेवाला ये तीनों बातें बुरी।

वै०—भाव कि ऐसे समाजमें सुजानोंके बोलनेका काम है और मैं बावला हूँ, इससे मेरी बुद्धि मन्द है; समाजमें बोलने योग्य नहीं, पुण्यस्थलमें निर्मल मन चाहिये और मेरा मन शोकसे पीड़ित है, इससे मलिन है।

रा० प्र० ने भी यही लिखते हुए यह भाव लिखा है कि इससे मौन रहें यही अच्छा है, क्योंकि बोलूँगा तो निष्काम ही बोलूँगा। दीनजी, वीर कवि आदिने भी यही अर्थ किया है।

पुनः, भाव यह कि यदि मैं मौन रहूँ तो सब कहेंगे कि मन मलिन है और बोलूँ तो बावला कहेंगे।

गौड़जी—*'एहि समाज, एहि थल, एहि राउर बूझब'* (अरु) मैं मौन, मैं मलिन, मैं बोलब बाउर' इस प्रकार इस अर्द्धालीका अन्वय स्पष्ट है। ☞ क्रमालंकारसे भाव यह है कि कहाँ ऐसे ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध गुरुजनोंका समाज और कहाँ मैं जिसको ऐसे समाजमें मौन ही रहना उचित है! कहाँ यह पुण्य भूमि चित्रकूट और कहाँ मैं मलिन पातकी! और, कहाँ आप-जैसे ज्ञानाम्बुनिधिका पूछना और कहाँ उसके उत्तरमें मेरी बावली बातें! **अन्तरं महदन्तरम्!! 'सभायां वा प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समंजसम्।'** यह नीति है कि सभामें समंजस ही कहे। सो ऐसी-वैसी सभा नहीं। इस पवित्र भूमिमें ऐसे ज्ञानियोंकी सभामें आप-जैसे ज्ञानिशिरोमणि पूछें तो मैं मलिनमति मौन रहूँ तो न बने और बोलूँ तो पागलोंका प्रलाप करूँ। आप पूछें और मैं न बोलूँ तो मनकी मलिनता प्रकट ही है और बोलूँ तो ठिकानेकी कहनेकी योग्यता नहीं। अब लाचार हूँ, छोटे मुँह बड़ी बात कहनी ही पड़ती है। मेरे खोटे भाग्यपर करुणा करके आप क्षमा कीजियेगा।

यह भरत भारती है, *'अरथ अमित अति आखर थोरे'* का उदाहरण है। ध्वनिसे विस्तृत भावोंकी द्योतक है।

वि० त्रि०—मानसमें छोटे-बड़ेका बर्ताव जो दिखाया गया है वह संसारके लिये आदर्श है। भरतजी समाजके सहित रामजीको मनाने आये हैं, पर मौन हैं, क्योंकि वसिष्ठजी साथ हैं, जैसा उचित होगा करेंगे। भरतजीके आ जानेपर लक्ष्मणजी मौन हैं, इतनी कथा हो गयी मानो वे हैं ही नहीं। शत्रुघ्नजीको बोलनेका अवसर ही नहीं मिला, क्योंकि वे सबसे छोटे थे। जब वसिष्ठजीने आज्ञा दी कि *'कृपासिंधु प्रिय बंधु सन कहहु हृदय की बात',* तब बोले। जनकजीके आ जानेपर फिर मौन हैं कि पितास्थानीय जनकजी आ गये। जो उचित होगा कहेंगे, मुझे कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं। यही बात भरतजी कह रहे हैं कि आपलोग मुझसे पूछते हैं पर मैं मौन हूँ, क्योंकि आपलोग जो कह देवेंगे मुझे मंजूर है, मैं दुःखी हूँ, मलिन हूँ और आर्त विचारके नहीं बोलता, अतः ऐसी अवस्थामें मेरे मुखसे सम्भव है कि कोई धृष्टताकी बात निकल पड़े। भाव यह कि 'आपलोग सेवाधर्मका कोई विचार नहीं कर रहे हैं, मुझे आयसु (आदेश) देनेको कह रहे हैं। आपलोग बड़े हैं, आपका आदेश स्वयं सरकारपर चल सकता है।' इसी प्रकारकी धृष्टताकी बातें (पूछनेपर) मेरे मुखसे निकलेंगी।

नोट—३ *'छोटे बदन कहौं बड़ि बाता'''''।'* इति। 'छोटे मुँह बड़ी बात', यह मुहावरा है—जिस बातकी योग्यता न हो उसपर कहना। बड़ोंके सामने छोटेका बोलनेका साहस करना यह यहाँ छोटी मुँह बड़ी बात कहना है अर्थात् मैं इस योग्य नहीं। मुझ बालक और सेवकका पिता और स्वामीसे ऐसे विषयपर बोलना बड़ी धृष्टता है, पर बोलना पड़ता है अतः क्षमाप्रार्थी हूँ।

आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवा धरमु कठिन जगु जाना॥७॥
स्वामि धरम स्वारथहि बिरोधू। बैर अंध प्रेमहि न प्रबोधू॥८॥
दो०—राखि राम रुख धरमु ब्रतु पराधीन मोहि जानि।
सब कें संमत सर्बहित करिअ पेमु पहिचानि॥२९३॥

शब्दार्थ—बैर=शत्रुता। बहिरा [बहर=बहिर=वधिर]।

अर्थ—वेद, शास्त्र और पुराणोंमें प्रसिद्ध है और संसारभर जानता है कि सेवाधर्म कठिन है॥७॥ स्वामिधर्मसे स्वार्थका विरोध है और प्रेम अन्धा तथा बहिरा है, उसे समझमें आता नहीं। अथवा वैर अन्धा है और प्रेम समझता नहीं॥८॥ श्रीरामजीका रुख, धर्म और व्रत रखते हुए तथा मुझे पराधीन जानकर, सबका प्रेम पहचानकर सबकी सम्मतिसे जो सबके लिये हितकारी बात निश्चय हो वह कीजिये॥२९३॥

* बैर अंध प्रेमहि न प्रबोधू *

पु० रा० कु०—वैर अन्धा होता है और प्रेमको (वा, प्रेमान्धको) ज्ञान नहीं होता। वैर करनेवाला अपने वैरीमें गुण नहीं देखता और प्रेमीको अपने प्यारेमें अवगुण नहीं दीखते। अर्थात् वैर और प्रेम दोनोंको विचारसे विरोध है।

दीनजी—स्वामिधर्म और स्वार्थसे विरोध है, अर्थात् ये दोनों साधन साथ-साथ नहीं चलते। वैर तो अन्धा होता है और प्रेमको कुछ ज्ञान नहीं रहता, अर्थात् वैर और प्रेम दोनों मनुष्यको हतबुद्धि बना देते हैं; अतः चाहे आप मुझे रामका विरोधी समझिये चाहे प्रेमी, दोनों दशाओंमें मेरा कथन ठीक न होगा, अतः मुझसे कुछ न कहलाइये, वरन्। (श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारजीने यही अर्थ ग्रहण किया है। स्वामिधर्म अर्थात् स्वामीके प्रति कर्तव्य-पालन, निःस्वार्थ भावसे स्वामीकी सेवा करना।)

वै०—कहाँ तो स्वामिधर्म निर्वासिक और कहाँ स्वार्थ सवासिक, यह परस्पर विरोध है। वैरसे जो जीव अन्धे हैं, वे सिवाय मार डालनेके और कुछ नहीं जानते, उनमें परस्पर प्रीतिका ज्ञान नहीं हो सकता अर्थात् स्वार्थ सेवक-धर्मको नष्ट करता है। (वीरकविने इसी भावको ग्रहण किया है। यहाँ दृष्टान्त अलंकार है।)

पां०—स्वामिधर्म और स्वार्थसे विरोध है, जैसे वैरसे जिनकी बुद्धि अन्धी हो गयी है उनसे और प्रेमके ज्ञानसे विरोध है, जैसे मूशा-बिल्ली आदिका।

रा० प्र०—वैरसे अन्धेको और अनन्य भक्त प्रेमीको चेत नहीं रहता। भाव कि जैसे स्वार्थीको स्वार्थ छोड़ और किसी बातका चेत नहीं रहता वैसे ही स्वामिधर्मपरायण अनन्य भक्तको अपना धर्म छोड़ स्वार्थका चेत नहीं रहता।

पं०—'स्वामिधर्म भी कठिन है क्योंकि स्वार्थका विरोधी है। आशय यह कि राज्य ग्रहण करनेसे सेवारूपी स्वार्थ नष्ट होता है, क्योंकि उसमें स्वामीसे वैर उत्पन्न होता है। जो कहो कि वैर उत्पन्न होने लगे तब पुनः स्नेह कर लेना, उसपर कहते हैं कि जब मनुष्य वैरसे अन्धा हो जाता है तब उसपर प्रेमका प्रबोध नहीं होता।''''' ***'प्रेम पहिचानि'*** का भाव यह कि जिससे रघुनाथजीके साथ प्रीति बनी रहे।'

वि० त्रि०—***'स्वामि धर्म''''' प्रबोधू'*** इति। भाव यह कि यहाँपर स्वामीके धर्मसे और मेरे स्वार्थसे विरोध पड़ गया। स्वामीका धर्म उन्हें वन जानेके लिये विवश किये हुए है और मेरा स्वार्थ उनके घर लौटनेमें है, अतः दोनोंका विरोध स्पष्ट है। और वैर अन्धा होता है। वैरी वैरीके गुणको नहीं देखते। सो न तो स्वामीका धर्म मेरे स्वार्थको देखता है और न मेरा स्वार्थ स्वामीके धर्मको देखता है। चाहिये तो यही कि ऐसे अवसरपर सेवक अपने स्वार्थका परित्याग करे, पर यहाँ स्वार्थ तो शुद्ध प्रेम है, और प्रेमको प्रबोध नहीं होता, अर्थात् मन किसी भाँति नहीं मानता।

श्रीनंगे परमहंसजी—'सेवा-धर्ममें यदि सेवकको स्वार्थ आ गया तो स्वामिधर्ममें विरोध हो गया। स्वामीका धर्म क्या है? सेवककी रक्षा करना। उस रक्षाधर्ममें विरोध हो गया अर्थात् स्वामीने सेवककी रक्षा करना छोड़ दिया, यही स्वामिधर्म और स्वार्थसे विरोध है। इसी स्वामिधर्मके विरोधमें भरतलालने अन्धेका उदाहरण दिया है कि अन्धेने जब अपने स्वामीसे स्वार्थ किया तब स्वामीसे वैर हो गया और जब वैर हुआ तब प्रेम जाता रहा; फिर स्वामीने अपने रक्षाधर्मको छोड़ दिया तब अन्धेको हर एक बातमें कष्ट होने लगा। यहाँ स्वामिधर्म और स्वार्थमें विरोध पड़ गया।

'अन्धेका स्वामी कौन है ? उसका स्वामी वही है जो उसको भोजन बनाकर देता था। वस्त्र-जल आदि देना और मल-मूत्र कराना यह सब शरीरकी रक्षा करता था। अन्धेको जब स्वार्थ हो गया तब स्वामी अपना धर्म छोड़ देगा तब जो उस अन्धेपर शारीरिक दुःख गुजरेगा वह विदित है। अतः भाव कि जैसे अन्धा पराधीन है, स्वार्थ करनेसे दुःख उठाता है, वैसे ही हम भी पराधीन हैं, स्वार्थ करनेसे हानि होगी।'

'किसीने अर्थ किया है कि 'वैर अन्धा होता है'। उन्होंने 'अन्ध' का अर्थ वास्तविक अन्धा नहीं किया है। जब मूल पाठमें 'बैर' शब्द अलग है, 'अन्ध' शब्द अलग है और 'प्रेम' शब्द भी अलग है, तब इन शब्दोंका अर्थ भी वास्तविक होना चाहिये, क्योंकि स्वामिधर्म व स्वार्थमें जो विरोध है वह वास्तविक है। अत: उदाहरणमें जो रूपक दिखाना होगा वह वास्तविक रूपक दिखाना होगा। इसलिये वैरको अन्धा बनाकर अर्थ करना अनर्थ है और पूर्व अर्थ ही यथार्थ है।'

* 'राखि रामरुख धर्मव्रत पराधीन मोहि जानि'*

'पराधीन मोहि जानि' से जनाया कि जो स्वतन्त्र होता है वही कुछ कर सकता है। मैं पराधीन हूँ, अतएव मैं कदापि कुछ नहीं कह सकता। जो सबका सम्मत हो और मुझे आज्ञा हो वह मैं करूँगा। जनकजीने जो कहा था कि *'राम सत्यब्रत धरम रत सब कर सील सनेह। संकट सहत सँकोचबस कहिय''''''*, उसका यह उत्तर है। वे सत्यव्रत हैं, उनका व्रत न टूटे। धर्मरत हैं, पितृ-आज्ञारूपी धर्म भी रहे, सबपर उनका शील और स्नेह है वह भी ज्यों-का-त्यों बना रहे, साथ ही सबका प्रेम जो उनपर है उसका भी विचार कर लीजिये, उनका प्रेम भी बना रहे, और जो आपने कहा कि संकोचवश संकट सहते हैं उसके लिये यहाँ कहते हैं—*'राखि रामरुख'* अर्थात् उनकी जैसी रुचि हो वैसा ही किया जाय, जिससे उनके मनमें संकोच न हो। यह बात प्रथम दरबारमें भरतजी कह भी चुके हैं—*'अब कृपाल मोहि सो मत भावा। सकुच स्वामि मन जाइ न पावा॥'* जो राजाने कहा कि *'कहिय जो आयसु देहु'* उसके उत्तरमें यहाँ *'पराधीन मोहि जानि। सबके संमत सर्बहित करिय'* ये वचन हैं। 'सर्वहित' में परिजन और अपना भी हित सूचित किया।

पु० रा० कु०—(क) रामरुखको सर्वप्रधान रखा, इसीसे उसे प्रथम कहा। 'पराधीन' का भाव कि स्वामीका जैसा रुख होगा वैसा ही मैं करूँगा। क्योंकि *'आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवा धरम कठिन जग जाना॥ स्वामिधरम स्वारथहि बिरोधू।'* ऐसा सेवकका धर्म है। (ख)—पहले सेवाधर्म कहकर तब दिखाया कि यहाँ जितनी बातें हैं उन सबोंमें परस्पर विरोध है। राम-रुख-धर्म-व्रत रखना सेवा-धर्म है, सर्वहित और सर्वप्रेम रखना यह स्वार्थ है। दोनों परस्पर विरोधी हैं। इसका निर्धारण कठिन है। (ग) भरतभाषणमें प्रथम सबकी बड़ाई है फिर अपने धर्मका सँभार है। (घ) भरतजीने रामजीकी आज्ञाको प्रधान रखा, यही दरबारमें कहा है और आगे भी कहेंगे—*'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसाद जन पावइ देवा॥'* इसीमें सब बात बनी—रामरुख रहा, धर्म रहा, व्रत रहा, भरतकी पराधीनता रही अर्थात् सेवक-धर्म रहा, यथा—*'भरतहि भयउ परम संतोषू'*, सबका सम्मत रहा, क्योंकि रामाज्ञापालन ही सर्वसम्मत है और सबका हित हुआ, यथा—*'राखे राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ।'* और सबका प्रेम रहा।

दीनजी—(१) आशय यह है कि मैं अपनेको दोषी समझता हूँ और श्रीरामजी *'स्वामि सनेह सराहत साधू'* अर्थात् अपना प्रेमी समझते हैं। यदि मेरी बात सत्य है तो भी मैं हतविवेक प्रमाणित होता हूँ *(बैर अंध प्रेमहिं न प्रबोधू)*, अत: मेरा कथन ठीक न होगा, आपलोग जो उचित समझिये सो कीजिये।

(२) भरतजीके इन वचनोंका तात्पर्य बड़ा गूढ़ है। जिस प्रकार चाहिये और जितने चाहिये व्यंग निकालते चले जाइये। सब ठीक उतरेंगे। अत: गोसाईंजी इन वचनोंको आगे *'अति अद्भुत बानी'* कहते हैं।

पाँड़ेजी—अर्थ यह है कि रामके धर्म-व्रतका रुख रखकर मुझे पराधीन जानकर सर्वसम्मत और सर्वहित प्रेमसे पहचानकर कीजिये। भाव यह कि रामजीका धर्म रखना सर्वसम्मत है और रामव्रत रखनेमें सर्वहित है,आप यही निश्चय कीजिये। यह बात प्रेमसे पहचानी जा सकती है, अत: प्रेमसे पहिचानकर करनेको कहा।

रा० प्र०—ये वचन परस्परविरोधी हैं, इनका निर्वाह कठिन है कि रामजीका पितु-आज्ञापालनरूपी धर्म रहे और प्रजाकी रुचि भी रहे (यह व्रत)। रामजी दोनोंको निबाहेंगे—शरीरसे धर्म और पादुका देकर व्रत।

गौड़जी—सेवाधर्म कठिन है। सभी जानते हैं। कैलाससे भी अधिक भारी है। स्वामीका धर्म स्वार्थका

विरोध है। स्वामीका धर्म है पिताकी आज्ञाका पालन और सत्यका व्रत तथा उससे स्व अर्थात् मेरे अर्थका सेवा-धर्मका विरोध है, क्योंकि मैं चाहता हूँ कि प्रभु राज्य करें और मैं सेवा करूँ, मेरे होते प्रभुको वनवासका कष्ट हो यह मैं सह नहीं सकता। इस मेरे स्वार्थके साथ स्वामिधर्मका विरोध है। इसपर यह कहा जा सकता है कि सेवकको उचित है कि स्वामीके धर्मके आगे अपने स्वार्थको झुका दे, अपने स्वार्थका त्याग करे। स्वामिधर्मकी रक्षाके लिये सेवक धर्म छोड़ दे, तो यह कैसे हो सकता है? न स्वामी अपना छोड़े न सेवक अपना, क्योंकि वैर अंधा होता है, अपना ही स्वार्थ देखता है। और जो यह कहिये कि स्वामिधर्मको सेवाधर्मसे इस प्रसंगमें विरोध भले ही हो, पर सेवाधर्मकी नींव तो प्रेमपर है, तो प्रेमको समझ-बूझ इतनी नहीं है कि वह सेवाधर्मका त्याग करे। प्रेम तो अंधा है। वह पर (स्वामीका) अर्थ नहीं देखता, बहिरा है, वह किसीकी सुनता नहीं, एतावता उसे किसी तरहसे प्रबोध नहीं होता। इसलिये मुझसे न पूछिये। मैं तो यह सब जानते हुए भी किंकर्तव्यविमूढ़ हूँ। मैं तो पर (रामजी—स्वामी) के अधीन हूँ। वह जो चाहें करें। मेरी यही स्थिति समझिये। जिसमें रामजीकी इच्छा पूरी हो, वही उपाय कीजिये। परंतु साथ ही स्वामिधर्म और व्रत भी रहे। मैं स्वामीके धर्म-व्रतको हानि नहीं पहुँचाना चाहता। मैं तो सेवक हूँ, स्वामीकी बात रखना मेरा धर्म है। सबकी सम्मति भी होनी चाहिये क्योंकि स्वामी सबके हैं। स्वार्थ भी सबका है। प्रेम भी सबको है। सबका हित जिसमें हो और किसीके प्रेमकी अवहेलना भी न हो, वही उपाय कीजिये। भाव यह कि 'रामरुख' सर्वोपरि है। उनकी आज्ञा तो मैं, दास ठहरा, करूँगा ही *(आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा)* पर सभी उनके प्रेममें लीन हैं, सबका हित और सबकी सम्मति उन्हींकी आज्ञा-पालनमें होगी। इसलिये यह संकेत किया कि उन्हींकी आज्ञा लेनी चाहिये।

भरत बचन सुनि देखि सुभाऊ। सहित समाज सराहत राऊ॥ १॥
सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथु अमित अति आखर थोरे॥ २॥
ज्यों मुखु मुकुर मुकुरु निज पानी। गहि न जाइ अस अद्भुत बानी॥ ३॥
भूप भरतु मुनि साधु* समाजू। गे जहँ बिबुध कुमुद द्विजराजू॥ ४॥

अर्थ—श्रीभरतजीके वचन सुनकर और उनका स्वभाव देखकर समाजसहित राजा जनक उनकी प्रशंसा कर रहे हैं॥ १॥ भरतजीकी वाणी सुगम है और अगम भी, कोमल भी है और कठोर भी है, सुन्दर भी है। उसमें अक्षर तो बहुत कम हैं पर अर्थ अत्यन्त अमित हैं॥ २॥ पुनः, जैसे मुँह दर्पणमें (देख पड़ता) है और दर्पण अपने हाथमें है पर वह मुँह (का प्रतिबिम्ब) पकड़ा नहीं जा सकता ऐसी ही यह वाणी अद्भुत है॥ ३॥ राजा, भरत, मुनि (वसिष्ठ, कौशिक आदि) समाजसहित वहाँ गये जहाँ देवतारूपी कुईंके (लिये) चन्द्र श्रीरामजी थे॥ ४॥

शिला—कहनेमें सुगम, सुननेमें मृदु, समझनेमें अगम हैं। उसमें पदार्थ मंजु अर्थात् विशद है। औरोंसे कहनेमें कठोर हैं।

वै०—स्वामीका रुख रखना सबको सुलभ है अतः *'राखि रामरुख'* सुगम है। सबका सम्मत हो यह अगम है क्योंकि पुरवासी चाहेंगे कि लौट चलें और ऋषि आदि चाहेंगे कि वनको जायँ। वचनोंमें मृदुता यह है कि 'रामजीका धर्म' भी रहे, धर्म रखनेसे दया, उदारता आदिसे सबका पालन होगा, यही कोमलता है। 'सर्वहित' यह मंजुलता है, यह सभी चाहते हैं, सभीको सुहावना लगता है कि हमारा हित हो। मंजु=उज्ज्वल जो सबको अच्छा लगे और वचनोंमें कठोरता यह है कि श्रीरामजीका सत्यव्रत रहे: क्योंकि इनसे वनमें रहना ही निश्चय होता है जो पुरजनोंको दुःखद है। अक्षर थोड़े और अर्थ बहुत *"प्रेम पहिचानि"* में हैं। इसके भाव अगली चौपाईमें कहेंगे।

* सहित—रा० प०, गी० प्रे०। साधु—ना० प्र०, भा० दा०, रा० बा० दा०।

'सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे।....'

पाँ०—सुगम अगम, मृदु कठोर, श्रीभरतजीकी वाणीके विशेषण हैं और मंजुका अन्वय चारोंके साथ है। इन चारोंमेंसे दो-दोका साथ है—सुगम और मृदुका साथ तथा अगम और कठोरका साथ है। *'राम रुख राखि'* और *'पराधीन मोहि जानि'* यह मंजु, सुगम और मृदु हैं और श्रीरामजीका धर्मव्रत रखना यह सुन्दर, अगम और कठोर है। पिताकी आज्ञाका पालन करें तो धर्म रहे, क्योंकि *'पितु आयसु सब धरमक टीका'* और अवधवासियोंकी रुचि रखना व्रत है, यथा—*'राम सदा सेवक रुचि राखी'*। दोनों परस्परविरोधी हैं। इनका निर्वाह कठिन है; इसीसे ये वचन अगम-कठोर हैं।

टिप्पणी—(१) पु० रा० कु० सुननेमें सुगम, समझनेमें अर्थात् विचार करनेपर अगम, कहनेमें मृदु और करनेमें कठोर हैं। मंजुका अन्वय सबमें है, यह सब पदोंका सम्बन्धी है, किसीकी जोड़में नहीं है। यथा—*'सखर सुकोमल मंजु दोष रहित दूषनसहित'* में सखर-सुकोमलका सम्बन्ध है और दोषरहित-दूषनसहितका सम्बन्ध है, पर मंजु किसीका सम्बन्धी नहीं तथा यहाँ भी जानिये।

टिप्पणी—(२) *'राखि राम रुख'* सुगम, *'राखि धर्म व्रत'* अगम, *'मोहि पराधीन जानि'* मृदु, *'सबके संमत'* मंजु और *'सर्बहित'* कठोर है। [सुगम-अगम तो पाँड़ेजीकी टिप्पणीसे स्पष्ट हैं। 'पराधीन हूँ' ये बड़े विनम्र वचन हैं अतः मृदु हैं। सर्वसम्मत मंजु है क्योंकि सब वही सम्मति देंगे जिसमें उनका हित होगा जो वे अच्छी समझेंगे। 'सर्वहित' कठिन है, क्योंकि जिससे एकका हित हो वही दूसरेके लिये अहित हो सकता है, सबका हित कठिन। पुरवासियोंका हित हो तो देव, मुनि आदिका अहित है।]

टिप्पणी—(३) यहाँ यह दिखाते हैं कि उत्तम वाणीमें क्या-क्या बातें चाहिये। प्रबन्ध बाँधनेमें सुगम हो; भावकी गम्भीरतामें अगम हो; कानोंके लिये मृदु हो; मंजु हो, अर्थात् रोचक और सर्वशास्त्रोंसे निर्दूषित हो और समझनेमें कठोर हो, सिद्धान्त जल्द न समझ पड़े। साथ ही अक्षर अत्यन्त थोड़े और अर्थ अमित हों। ये सब बातें जिसमें हों वही प्रबन्ध है।

वै०—(१) *'राखि राम रुख....'* यह दोहा मुकुर है और जो पूर्व कहा कि *'सब तें सेवक धरमु कठोरा'* *'स्वामि धरम स्वारथहि बिरोधू'* यह वचन मुख है। जो दोहेमें कहा कि *'पराधीन मोहि जानि'* यह सेवक-धर्मका प्रतिबिम्ब देख पड़ता है। पर इसका आशय नहीं मिलता कि क्या करनेको कहते हैं। (२) आशय यह है कि मैं अपना स्वार्थ नहीं चाहता जो स्वामीकी आज्ञा होगी वही करूँगा। 'जानि' अर्थात् यह सिद्धान्त जान लीजिये। भाव कि जैसे मैं सेवक हूँ ऐसे ही सब सेवक हैं, सबको प्रभुकी आज्ञा प्रसन्न मनसे पालन करना चाहिये। इस प्रकार रामरुख रखनेसे सबका सम्मत मिलेगा। (३) रामजीका धर्म सत्यव्रत रखकर प्रेम पहिचानकर सबका हित कीजिये। *'प्रेम पहिचानि'* में अमित अर्थ हैं—छोटे-बड़े सभीका रामपर प्रेम है उसे जानकर रघुनाथजी उसको प्रेमपूर्वक धीरज देकर जो आज्ञा देंगे वह उसे हर्षपूर्वक करेगा। इस प्रकार दोनों समाज लौट जायँगे किसीका प्रेम भंग न होगा, वरन् आज्ञा-पालनसे सबका हित होगा और रामजीका धर्मव्रत भी रहेगा।

दीनजी—*'सुगम अगम'* में मैं बैजनाथजीसे सहमत हूँ। 'सर्वहित' मृदु है क्योंकि हित चाहना उत्तम वृत्ति है। *'पराधीन मोहि जानि'* यह मञ्जु है और *'प्रेम पहिचानि'* यह कठोर है। भाव यह कि आप विदेह हैं, मेरा और रामका परस्पर प्रेम आप कैसे जान सकते हैं, प्रेममार्ग आपकी समझसे बाहर है।

नोट—अधिक टीकाकारोंने दोहे ही भरमें ये सब विशेषण घटाये हैं। पंजाबीजी आदिने श्रीभरतजीकी समग्र वाणीमें ये विशेषण यों घटाये हैं—

सुगम—*'प्रभु प्रिय पूज्य पिता सम आपू। कुलगुरु सम हित माय न बापू॥'*

अगम—*'कौसिकादि मुनि सचिव समाजू। ग्यान अंबुनिधि आपुनु आजू॥'*

मृदु—*'सिसु सेवक आयसु अनुगामी....।'*

मंजु—*'मौन मलिन मैं बोलब बाउर।'* इसमें अर्थकी सरलता और लालित्यता भरी है, इसीमें कार्पण्य भी है।

कठोर—*'सेवाधरम कठिन जग जाना'* यह कठिन है।

'अर्थ अमित आखर अति थोरे'—*'बैर अंध प्रेमहि न प्रबोधू'* और *'राखि रामरुख धरम ब्रत पराधीन मोहि जानि। सबके संमत सर्बहित करिय प्रेम पहिचानि'* इनमें असंख्य अर्थ भरे हैं। अक्षर बहुत थोड़े हैं।

पंजाबीजी लिखते हैं कि *'प्रभु""प्रिय'* सुगम हैं, क्योंकि इनमें गुरु और श्वशुरका मान है। इनका मान सब रखते हैं। *'कौसिकादि"""'* दो चरण अगम हैं, क्योंकि मुनियोंका मान रखना और ज्ञानका माहात्म्य लखना लोगोंको कठिन है। *'सिसु सेवक"""'* दो चरणोंके वर्ण मृदु और अर्थ भी, एवं आयसुमें भी। *'एहि समाज थल"""'* चार चरण मनोहर हैं। सुन्दरता यह है कि इनमें अपनी अत्यन्त नम्रता कही है। *'आगम निगम"""'* ये दो पद कठिन हैं, क्योंकि सेवा करनेमें अति कष्ट है। *'स्वामि धरम"""'* से दोहेतक अल्प अक्षर हैं पर अर्थकी थाह नहीं, अति विस्तृत है, जहाँतक जिसकी बुद्धि पहुँच सके वहाँतक विस्तार कर सकता है।

रा० प्र०—*'गहि न जाइ अस अद्भुत बानी'* इति। यहाँ वचन मुकुर और अर्थ मुँहका प्रतिबिम्ब है। भाव कि 'जो शब्द कहे वे सब स्पष्ट हैं और अर्थ भी भलीभाँति समझा जाता है पर व्यवस्था नहीं हो सकती। 'दर्पण देखनेवाला अपना मुख पकड़े तो दर्पणमें मुख पकड़में आता है', देवस्वामीजीके इस भावका आशय यह है कि यदि भरतजी प्रसन्न हो जायँ, उनकी कृपा हो तो वाणी पकड़में आ जावे।' 'उसका आशय समझमें आ जाय।'

वि० त्रि०—*'ज्यों मुख मुकुर""बानी'* इति। ऊपर कह आये हैं *'अर्थ अमित अति आखर थोरे।'* उसीकी उपमा देकर स्पष्ट करते हैं। छोटा-सा दर्पण है, वह हाथमें आ जाता है, उसी भाँति थोड़ी-सी बात कही जिसके अर्थ-ग्रहणमें कोई कठिनता न थी। जिस भाँति उस छोटे-से दर्पणके द्वारा मुख रंग-रूपके सहित प्रतिबिम्बित होता है, उसी भाँति उस थोड़ी-सी बातमें भावार्थ भरा था, और स्पष्ट प्रतिभात होता था। पर जिस भाँति प्रतिबिम्बित मुख पकड़में नहीं आता, उसी भाँति उस भावार्थका उत्तर किसीको नहीं सूझा, तब सब लोग श्रीरामजीके पास गये।

श्रीनंगे परमहंसजी—'श्रीभरतजीका वचन है कि *'श्रीरामजीका रुख राखि'*। 'रुख' दो अक्षरका शब्द है पर उसका अर्थ बहुत है। बहुत कहते हैं विस्तारको अर्थात् हर एक बातोंमें रुख रखना। पुनः वचन है *'श्रीरामजीका धर्म राखि।'* 'धर्म' में भी तीन ही अक्षर हैं पर धर्मको रखनेमें अर्थ विस्तारसे होगा। इसी तरह *'ब्रत राखि'* आदि बहुत-से वचन हैं जिनमें अक्षर थोड़े हैं और अर्थ अमित हैं। परंतु कोई-कोई महात्मा एक शब्द या एक चौपाईका अर्थ कई प्रकार करते हैं और इन्हीं भरतजीके वचनोंका उदाहरण देते हैं कि *'अर्थ अमित अति आखर थोरा'* तो अमितका अर्थ विस्तार होगा न कि कई प्रकारका होगा, बल्कि एक शब्दका अर्थ एक स्थलपर एक ही होगा, कई प्रकारका अर्थ हो ही नहीं सकता। यदि कोई एक स्थलपर एक शब्दका अर्थ कई प्रकारका करेगा तो वह गँवारके सदृश कहा जायगा; क्योंकि विद्वान् एक शब्दका एक ही अर्थ करेगा। यदि दो अर्थ किया होगा तो सन्देहमें किया होगा। उसको निश्चय नहीं था नहीं तो निश्चयमें एक ही अर्थ होता।"""दो अर्थ करनेवाला सन्देहमें है और कई अर्थ करनेवालेको तो कुछ बोध ही नहीं है। अतः श्रीभरतजीके वचनोंका अर्थ एक प्रकारका अमित है। कई प्रकारका अर्थ करना अयोग्य है।

दीनजी—वे ठीक कहते हैं पर उसका पालन अति कठिन है।

नोट—*'गे जहँ बिबुध कुमुद द्विजराजू'*—ये शब्द आगे दरबारेआमके 'बीज' रूप हैं। दरबारमें क्या निर्णय होगा यह कविने आदिमें ही 'सूत्र' या 'बीज' रूपसे जना दिया। यह पूज्य कविकी शैली है। उनकी इस चतुराईको ठौर-ठौरपर इस तिलकमें दिखलाया गया है—चन्द्रमा ब्रह्माण्डभरमें विचरता है, यद्यपि

जन्म उसका सिन्धुमें है, वह कुईंको खिलाता है। वैसे ही प्रभु देवताओंको (जो सोचमें पड़े हैं) विकसित करेंगे, उनके लिये वनको जाना आज निश्चय करेंगे। *'बिबुध'* शब्द यहाँ आदिमें दिया है, आगे देवताओंके शोच प्रसङ्ग २९५ (१-८) में यही शब्द दिया गया है। यथा—*'पालु बिबुध कुल करि छल छाया', 'बिबुध बिनय सुनि देवि सयानी।', 'बिबुध बिकल निसि मानहुँ कोका।'* इन्द्रने सरस्वतीसे प्रार्थना की कि विबुधकुलका पालन करे पर वह समर्थ न हुई, तब वे व्याकुल हुए। श्रीरामचन्द्रजी उनके शोच और संकट दोनोंको हरण कर उनको सुख देंगे, वे प्रफुल्लित होंगे, यथा—*'गावत गुन सुर मुनि बर बानी।'*

सुनि सुधि सोच बिकल सब लोगा। मनहुँ मीनगन नव जल जोगा॥ ५॥
देव प्रथम कुलगुर गति देखी। निरखि बिदेह सनेह बिसेषी॥ ६॥
रामभगति मय भरतु निहारे। सुर स्वारथी हहरि हिय हारे॥ ७॥
सब कोउ रामपेममय पेखा। भये अलेख सोच बस लेखा॥ ८॥

दो०—रामु सनेह सकोच बस कह ससोच सुरराजु।
रचहु प्रपंचहि पंच मिलि नाहिं त भयेउ अकाजु॥ २९४॥

शब्दार्थ—**जोग**=संयोगसे, मिलनेसे। **नव जल जोगा**=माँजासे। अलेख=जिसका लेखा या हिसाब न हो सके, बे-अन्दाज, बहुत अधिक। लेखा=देवता, यथा—*'चढ़े बिमानन लेख अलेखन बर्षहिं मुदित प्रसून'*—(रघुराज) **'आदितेया दिविषदो लेखा अदितिनन्दनाः, इत्यमरः'**। **पंच**=सर्वसाधारण, सब लोग, यथा—*'पंच कहें सिव सती बिबाही'।* =पाँच या अधिक प्रधान लोगोंका समाज।

अर्थ—यह खबर पाकर सब लोग सोचसे व्याकुल हैं, मानो मछलियाँ नये (प्रथम वर्षाके) जलके संयोगसे छटपटा रही हैं॥ ५॥ देवताओंने पहले कुलगुरु श्रीवसिष्ठजीकी दशा देखी (फिर) विदेह राजाके विशेष स्नेहको देखा॥ ६॥ श्रीभरतजीको देखा कि वे तो रामभक्तिमय हैं (वे रामभक्तिरसलीन हैं, उनमें रामभक्ति भीतर-बाहर परिपूर्ण है)। (यह देख) स्वार्थी देवता घबड़ाकर हाय करके हृदयसे हार गये (अर्थात् अब हम निपट बेबस हैं, हमारा किया कुछ नहीं हो सकता, ये लोग अवश्य श्रीरामजीको लौटा ले जायँगे)॥ ७॥ समाजके सभी लोगोंको रामप्रेममय देखा तो देवता बेहद सोचके वश हो गये॥ ८॥ देवराज इन्द्र सोचयुक्त (चिन्तातुर) होकर कहने लगे कि श्रीरामजी स्नेह और संकोचके वश हैं; अतः सब पंचलोग मिलकर माया रचो, नहीं तो काम बिगड़ता है॥ २९४॥

नोट—यहाँ श्रीवसिष्ठजी, विदेहजी और सब समाजके लिये क्रमसे पृथक्-पृथक् 'देखी, निरखि, निहारे और पेखा' क्रियाएँ दी गयी हैं। ये सब पर्यायवाची शब्द हैं पर तो भी इनमें सूक्ष्म विचार करनेसे कुछ भेद भी देख पड़ेगा। प्रिय पाठक विचार करें।

टिप्पणी—१ *'सुनि सुधि सोच बिकल सब लोगा।......'* इति। जब समाज चला तब सबको खबर मिली कि *'राखि रामरुख धरमब्रत'* यह सबका सम्मत निश्चय हुआ है। अतएव वे व्याकुल हुए क्योंकि रामरुख तो वनवास और पितु-आज्ञा-पालनका ही है। वियोग निश्चय हो गया। *'मनहुँ मीनगन नवजल जोगा'* का भाव *'माँजा मनहुँ मीन कहुँ ब्यापा'*—१५३ (६) देखिये।

टिप्पणी—२ कुलगुरुगति, यथा—*'भये सनेह सिथिल मुनिराऊ'*। 'विदेह सनेह', यथा—*'सुनि मनिबचन जनक अनुरागे। लखि गति ज्ञान बिराग बिरागे॥'* से *'तापस मुनि महिसुर गति देखी। भये प्रेमबस बिकल बिसेषी॥'* तक (२९२। १—५) भरत तो *'राम प्रेम मूरति तनु आहीं।'* (१८४। ४) *'तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥'* (२०८। ८) 'रामभक्तिमय' का भाव भी वही है जो इन चौपाइयोंका है। *'सब कोउ रामपेममय'* यथा—*'सहज सुभाय समाज दुहु रामचरन अनुरागु।'* (२८०) *'जाहिं सनेह सुरा सब छाके।'* (२२५। ३)

टिप्पणी—३ *'सुर स्वारथी हहरि हिय हारे'* इति। घबड़ा उठे, हृदयसे हार गये; क्योंकि एक ही प्रेमीका संकोच बहुत होता है और यहाँ तो तीन परिपूर्ण स्नेही हैं, फिर इनके संकोचसे क्यों न लौटेंगे। ये सब तो रामरुख रखनेका ही सम्मत करके गये हैं, पर देवता स्वार्थमें अन्धे हो रहे हैं, उन्हें यह नहीं सूझता; वे तो यही समझते हैं कि लौटाने जा रहे हैं। दूसरे भरतवाणी ही ऐसी है कि उसे न समझ सके होंगे।

टिप्पणी—४ *'भये अलेख सोच बस लेखा'* इति। पहले तीनपर ही दृष्टि थी, अब देखा कि समाजभर रामप्रेममय है, इससे उनके सोचका लेखा न रह गया। इनको लेखासे भी अधिक सोच हो गया, लेखा होकर भी अलेख शोचवश हुए, इसमें 'पदार्थावृत्ति दीपक अलंकार' है। प्रेमगुणसे इनको शोच होना 'तीसरा उल्लास' है।

टिप्पणी—५ *'रामु सनेह सकोच""'* इति। इसके जोड़का दोहा *'राम सकोची प्रेमबस भरत सुपेम पयोधि। बनी बात बिगरन चहति करिय जतन छल सोधि॥'* (२१७) है। वही भाव यहाँ भी है। भाव कि श्रीरामजी स्नेहके वश हैं और यहाँ सभी स्नेही हैं, तब हमारा काम बिगड़ा ही जानो। बृहस्पतिजीके समझानेपर भी इन्हें ढाढ़स न हुआ, बार-बार शोचवश हो जाते हैं, यह जीवका धर्म ही है, यथा—*'हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धरम अहमिति अभिमाना॥'* (बा० ११६।७) पुनः, स्वार्थवश बुद्धि जड़ हो गयी है, इससे शोचवश हैं।

सुरन्ह सुमिरि सारदा सराहीं। देबि देव सरनागत पाहीं॥ १॥
फेरि भरत मति करि निज माया। पालु बिबुधकुल करि छल छाया॥ २॥
बिबुध बिनय सुनि देबि सयानी। बोली सुर स्वारथ जड़ जानी॥ ३॥
मो सन कहहु भरतमति फेरू। लोचन सहस न सूझ सुमेरू॥ ४॥

अर्थ—देवताओंने सरस्वतीका स्मरण (आवाहन) करके उसकी प्रसंसा की। (और स्तुति करके कहा) हे देवी! देवता आपकी शरणमें प्राप्त हैं, रक्षा कीजिये॥ १॥ अपनी माया रचकर भरतकी बुद्धिको फेरकर छलरूपी छाया करके देवकुलका पालन कीजिये॥ २॥ देवताओंकी प्रार्थना सुनकर और उन्हें स्वार्थके वश होनेसे जड़ समझकर चतुर देवी सरस्वती (इन्द्रको सम्बोधन करके) बोली—॥ ३॥ मुझसे कहते हो कि भरतकी बुद्धि पलट दो, हजार नेत्रोंसे भी तुमको सुमेरु नहीं सूझ पड़ता॥ ४॥

वि० त्रि०—*'सुरन्ह सुमिरि""पाहीं'* इति। सुरराजने कहा कि पञ्च मिलकर प्रपञ्च करो, पर देवता लोग सरस्वतीका आवाहन करके स्तुति करने लगे। समझा कि हम लोगोंका रचा प्रपंच भरतपर काम न करेगा। शारदा देवीने भरतकी माँकी बुद्धि फेर दी, वही भरतकी बुद्धि फेरनेमें समर्थ है। भरतलालको राज्यकी कामना हो जाय, फिर तो सब काम बना-बनाया ही है। अतः शरणागत हो रहे हैं, जिसमें देवी उनकी विनयको अस्वीकार न करे।

नोट—१ *'पालु बिबुधकुल करि छल छाया'* इति। जैसे घामकी तपनसे बचनेके लिये छाताकी छाया करते हैं वैसे श्रीरामजीका लौटना ग्रीष्मकी तपन है, उससे बचनेके लिये छलरूपी छत्रकी छाया चाहते हैं।

नोट—२ *'बिबुध बिनय सुनि देबि सयानी।""'* इति। (क) सरस्वती देवताओंके भुलावेमें नहीं आयी और चतुरोंकी-सी बात कही, अतः 'देवी और सयानी' कहा। देवी=देवता, ब्रह्माकी स्त्री और दिव्यज्ञानवाली है। विनयके साथ बिबुध अर्थात् विशेष बुद्धिसूचक बड़ा नाम दिया; क्योंकि आवाहन किया, कैसी प्रशंसा-स्तुति की कि 'शरणागत' हैं, पाहि-पाहि!' काम निकालनेके लिये बड़ी बुद्धिमानीकी विनय की। और 'जड़' के साथ 'सुर' छोटा शब्द दिया। (ख) *'जड़ जानी'* अर्थात् कहनेको तो विबुध हैं पर वस्तुतः स्वार्थवश विगतबुद्धि हैं, जड़-सरीखे हो रहे हैं, बृहस्पतिजी दो बार समझा चुके तब भी इन्हें हानिलाभका यथार्थ बोध नहीं हुआ—*'समुझाये सुरगुरु जड़ जागे'*— (२४१। ८) देखिये। पुनः, *'स्वारथ बिबस बिकल तुम्ह होहू'* इत्यादि २२० (२) देखिये। जड़ हो गये इसीसे भरतजीकी वाणीको न समझे।

प० प० प्र०—यह उपदेश है कि जीव स्वार्थवश होनेसे जड़ (मन्दबुद्धि) हो जाते हैं, उनकी विवेक-विचार-शक्तिका विनाश हो जाता है। सयाने देवता ऐसे स्वार्थी मन्दबुद्धि लोगोंकी आर्तिपूर्ण विनय भी नहीं सुनते।

नोट—३ *'लोचन सहस न सूझ सुमेरू'* इति। यहाँ परम प्रेममय श्रीभरतजी सुमेरु हैं, यथा—*'कहिअ सुमेरु कि सेर सम कबिकुल मति सकुचानि।'* (२८८) *'……भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहि……'* इत्यादि। [भरतजीकी मति सुमेरु पर्वतकी तरह भारी है। यथा—*'सोक कनक लोचन मति छोनी। हरी बिमल गुन गन जग जोनी॥ भरत बिबेक बराह बिसाला। अनायास उघरी तेहि काला॥'*—(नं० प०)] भाव कि जिसके एक भी आँख हो वह सुमेरुको देख सकता है, और तुम्हारे हजार नेत्र हैं तब भी नहीं देख सकते, यह आश्चर्य है। भरतके प्रेम, बुद्धि एवं महिमा आदिकी थाह वसिष्ठ, जनक, विधि, हरि, हर आदि तो पा ही न सके, प्रत्युत उनके प्रेमको देख स्वयं प्रेममें मग्न हो जाते हैं, यह तुमको नहीं देख पड़ता। उनकी मति कोई फेर सकेगा? पंजाबीजी लिखते हैं कि सरस्वती बुद्धिमती हैं, इनको स्वार्थपरायण व जड़ और बुद्धिहीन जानकर ये अपमानके वचन उसने कहे।

प० प० प्र०—*'लोचन सहस……'* इति। *'बचन सुनत सुरगुरु मुसकाने। सहस नयन बिनु लोचन जाने॥'* (२१८। १) मिलान कीजिये। देखिये, देवगुरुने ये वचन सहस्राक्षसे कहे नहीं, अपने मनमें उसको ऐसा समझा पर शारदा तो स्पष्टवक्त्री ठहरीं, इन्होंने साफ-साफ कह दिया। सुरगुरु अपने शिष्य देवराजको उसके मुखपर *'सहस नयन बिनु'* (अंधा) कहनेमें सकुचे, पर ये (सरस्वती) उनका संकोच क्यों करने लगीं। ज्ञानी भगवत्प्रेमी संकोची होते ही हैं।

वि० टी०—सुमेरु उस गुरियाको भी कहते हैं, जो मालाके मध्य भागमें सबसे बड़ा या पृथक् होता है। इस हेतु 'सुमेरु' का अर्थ 'प्रधान वा मुखिया' होता है। *'न सूझ'*=जिन्हें सूझे नहीं किम्वा अंधे। *'न सूझ सुमेरू'*=अँधोंका मुखिया'

भागवतमें लिखा है कि सुमेरु पर्वतोंका राजा है, जम्बूद्वीपके इलावृत्त खण्डमें यह स्थित है। इसका शिरोभाग १२८ हजार कोस, मूलदेश ६४००० और मध्य ४००० कोसका है। इसके चारों ओर मंदर, मेरुपर्वत, सुपार्श्व और कुमुद नामक चार आश्रित पर्वत हैं। इनके शृंगोंपर २१ स्वर्ग हैं।

बिधि हरि हर माया बड़ि भारी। सोउ न भरत मति सकइ निहारी॥५॥
सो मति मोहि कहत करु भोरी। चंदिनि कर कि चंडकर* चोरी॥६॥
भरत हृदय सियराम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू॥७॥
अस कहि सारद गइ बिधिलोका। बिबुध बिकल निसि मानहु कोका॥८॥

दो०—सुर स्वारथी मलीन मन कीन्ह कुमंत्र कुठाटु।
रचि प्रपंच माया प्रबल भय भ्रम अरति उचाटु॥२९५॥

करि कुचाल सोचत सुरराजू। भरतु हाथ सबु काजु अकाजू॥१॥

* यह पाठ राजापुर, भा० दा०, रा० प्र०, रा० गु० द्वि० आदिका है। 'चंदकर'(=चन्द्रमाकी) पाठ ना० प्र० ने दिया है। बैजनाथजी 'चंद कि चोरी' पाठ देकर भाव लिखते हैं कि 'भरतभारती' मेरा अमल शुद्ध रूप है, उसे मैं कैसे बिगाड़ सकती हूँ। 'चंडकर' पाठ उत्तम है; क्योंकि अर्थ ही उसका प्रचण्ड किरणवाला है। दूसरे चन्द्रमा और सूर्य पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं, वैसे ही सरस्वती और भरतमति पृथक्-पृथक् वस्तुएँ हैं। चन्द्रमा और उसकी चाँदनी पृथक् नहीं है।

प० प० प्र०—स्वामीजी 'चन्दकर' पाठके पक्षमें हैं, वे कहते है कि पृथक्-पृथक्में ही एक-दूसरेको चुरा सकता है। चन्द्र और चाँदनी तत्त्वतः अभिन्न होनेसे एक-दूसरेकी चोरी करनेमें असमर्थ हैं। भरतजीकी मति रामभक्तिमयी

शब्दार्थ—अरति=अलग्न, चित्तका न लगना, यह एक प्रकारका मोहनीय कर्म मोहनप्रयोग भी है। जैन-शास्त्रानुसार इस कर्मके उदयसे मन किसी काममें नहीं लगता। उचाट (उच्चाट)=मनका न लगना, उदासीनता, अनमनापन।

अर्थ—ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी माया बड़ी विशाल है, परन्तु वह भी श्रीभरतजीकी बुद्धिकी ओर ताक नहीं सकती॥ ५॥ उसी बुद्धिको तुम मुझसे कहते हो कि भोली कर दो। क्या चाँदनी सूर्यको चुरा सकती है?॥ ६॥ श्रीभरतजीके हृदयमें श्रीसीतारामजीका निवास है। जहाँ सूर्यका प्रकाश है, क्या वहाँ अन्धकार हो सकता है॥ ७॥ ऐसा कहकर सरस्वतीजी ब्रह्मलोकको गयीं। देवता ऐसे व्याकुल हुए मानो रात्रिमें चकवा व्याकुल हो रहा है॥ ८॥ स्वार्थी और मनके मैले देवताओंने कुमन्त्र (बुरी सलाह, कुसम्मति) का बुरा ठाट रचा (प्रबन्ध किया)। प्रबल मायाजाल रचकर भय, भ्रम, अरति और उच्चाटन फैलाया॥ २९५॥ इस प्रकार कुचाल करके देवराज इन्द्र सोचता है कि काज अकाज (हमारे कामका बनना वा बिगड़ना) श्रीभरतजीके हाथ है (वे ही चाहें तो बने)॥ १॥

नोट—१ '*बिधि हरि हर माया बड़ि भारी*….'। यह कहकर जनाया कि इनमेंसे प्रत्येककी माया बड़ी प्रबल है, ये अपनी मायासे संसारको नचाया करते हैं। यथा—'*जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥*' (१२७। १) उसपर भी तीनोंकी माया मिलकर एक होकर भी भरतजीकी बुद्धिकी ओर दृष्टि नहीं डाल सकती। अर्थात् उनकी बुद्धिके तेजके सामने आँख तो कर ही नहीं सकती, नजर ठहर ही नहीं सकती, देखना और भोरी करना तो दूर है। तब मेरी माया और वह भी अकेली क्या कर सकती है? कुछ भी नहीं। यथा—'*कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे॥*' मिलान कीजिये—'*भगतिहि सानुकूल रघुराया। तातें तेहि डरपति अति माया॥ रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥ तेहि बिलोकि माया सकुचाई। कर न सकइ कछु निज प्रभुताई॥*' (७। ११६। ५—७) भाव कि भगवान् रामकी माया भी भक्तिमय भक्तोंके पास जाते डरती है, वह भी प्रभुकी इच्छा बिना पास नहीं जा सकती। तब त्रिदेवादिकी तुच्छ माया वहाँतक कब पहुँच सकती है। '*बड़ि भारी*' कहकर अपनी माया उनसे बहुत लघु जनायी। यहाँ 'व्यङ्गार्थद्वारा काव्यार्थापत्ति अलंकार' है।

वै०, रा० प्र०—विधिहरिहर त्रिगुणमयी हैं। उनकी माया त्रिगुणात्मक है और भरतमति गुणातीत है। त्रिगुणात्मिका माया उनको नहीं व्याप सकती।

प० प० प्र०—भरतमतिको फेरना है। पर फेरनेके पूर्व उनकी 'सन्मति' को हरना चाहिये। यह कार्य

है। रामभक्ति रामजी ही हैं—'रसो वै सः' (श्रुतिः)। राम और रामभक्तिमय मति अभेद होनेसे जो रामजीकी चोरी कर सकेगा वही भरतमतिको फिरा सकेगा। पर यह असम्भव है।

कोदोरामजीका पाठ 'चन्द' है। श्रीनंगे परमहंसजी उस पाठसे यह भाव कहते हैं कि 'चन्द्रमाका प्रकाश चाँदनीसे विशेष है, तो विशेषकी चोरी सामान्य कैसे कर सकता है ? जब चोरी करने जायगा तो सामान्य होनेसे विशेषमें लय हो जायगा।'

श्रीनंगे परमहंसजी—उपर्युक्त चौपाइयोंका यह भाव लिखकर कि 'सुमेरु पर्वतकी उपमा देकर भरतके मतिकी गुरुता दिखायी। फिर चन्द्रमाकी उपमा देकर शारदाने रात्रि सूचित की अर्थात् मैं रात्रिमें भी भरतकी मति फेरने नहीं जाऊँगी, क्योंकि मेरी मति चाँदनीके समान है और भरतकी मति चन्द्रमासदृश है, भरतकी मतिमें मेरी माया लय हो जायगी, जैसे चन्द्रमें चाँदनी। कारण-कार्य होनेसे चाँदनी और चन्द्रमा दो बातें हैं। पुनः सूर्यकी उपमा देकर सूचित किया कि दिनमें भी भरतकी मति फेरने मैं नहीं जाऊँगी; क्योंकि मेरी माया अन्धकाररूप है और भरतमति सूर्यरूप है, मेरी मायाको नष्ट कर देगी।'—लिखते हैं कि 'चन्द' पाठ उत्तम है; क्योंकि रात्रिके विशेषणमें चाँदनी और चन्द्रमा हैं और दिनके विशेषणमें सूर्य और तम हैं। चोरी प्रायः रात्रिमें होती है अतः चन्द्रमाके लिये चोरी शब्द लाया गया। चण्डकर पाठसे पुनरुक्ति दोष होगा। एक ही प्रसङ्गमें सूर्यकी उपमा दो जगह आ जायगी। दूसरे 'कर' शब्दको दो बार दो अर्थोंमें लेना पड़ेगा।

हरकी तामसी मायाका है। पर भरतजीमें तमोगुणका नाम भी नहीं है। जबतक सन्मतिका विनाश न होगा तबतक रजोगुणी मतिके निर्माणका कार्य विधिकी रजोगुणी माया भी नहीं कर सकती। जब उत्पत्ति ही नहीं तब पालन-स्थिति करनेका कार्य हरिकी सात्त्विकी माया भी कब कर सकेगी ?

नोट—२ ***'चंदिनि करि कि चंडकर चोरी'*** इति। चन्द्रमामें सूर्यसे प्रकाश आता है, चन्द्रमा चाहे कि सूर्यको चुरा ले तो क्या वह चुरा सकता है, कदापि नहीं। चन्द्रमा सूर्यको ढक नहीं सकता, तब चाँदनी क्या सूर्यको चुरा सकेगी? सरस्वती अपनी मायाको चाँदनीवत् बताती है, विधिहरिहर-माया चन्द्रवत् है, भरतकी मति सूर्य है, मतिका भोरी करना चन्द्रिकाका सूर्यकी चोरी करना त्रिकालमें असम्भव है। वैसे ही मेरे लिये भरत-मतिको भोरी करना असम्भव। चाँदनी असमर्थ वैसे ही मैं असमर्थ। यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

टिप्पणी—१ ***'तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू'*** इति। अर्थात् हमारा छल-कपट अन्धकाररूप है और भरतहृदयमें श्रीसीतारामरूपी तरुणावस्थाके सूर्यका निवास है। सूर्यके समीप अन्धकारका नाश होता है, वैसे ही भरतजीके समीप हमारी माया आप ही नाशको प्राप्त हो जाती है। पुन:, भाव कि ***'उपजहिं जासु अंस ते नाना। संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना॥'*** ***'जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी'॥*** ऐसी श्रीसीताजीका जिनकी मायाके अन्तर्गत सब माया है, यथा—***'माया सब सियमाया माहूँ'***, और ऐसे श्रीरामजीका कि जो मायापति हैं, यथा—***'मायापति सेवक सन माया'*** इन युगल सरकारोंका निवास जहाँ है वहाँ विधिहरिहर आदिका तो गम नहीं तब हमारी माया वहाँ कैसे पहुँच सकती है? श्रीरामजी धनुर्धर हैं, वे अवश्य सबका नाश कर देंगे।

दीनजी—अर्थात् मेरी माया वहाँ किसी प्रकार चल नहीं सकती; क्योंकि जिनके हृदयमें राम बसते हैं उनके विचार एकरस बने रहते हैं, बदलते नहीं।

रा० प्र०—राम ज्ञानरूप हैं, माया अज्ञानरूप है। जहाँ ज्ञान है वहाँ अज्ञान नहीं जा सकता।

टिप्पणी—२ ***'अस कहि सारद गइ बिधि लोका·····'*** इति। (क) अर्थात् उनको जवाब दे गयी कि हमसे तुम्हारा काम नहीं हो सकता। बिधिलोकको गयी, जहाँ उसका निवास-स्थान है। यथा—***'भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई॥'*** (१। ११। ४) देखिये। (ख) ***'बिबुध बिकल·····'*** चकवा-चकईका दिनमें संयोग और रातमें वियोग रहता है। वियोगसे वह विकल होता है। सरस्वतीके जवाबसे वे हताश हो गये हैं; जानते हैं कि अब श्रीरामजी अवश्य लौट जायँगे, यहाँतक हमारा साथ दिया अब उनसे बियोग होगा। उनके लौटनेसे वे अपनी श्री, अपने लोक, अपनी उर्वशी आदि अप्सराओंसे सदाके लिये वियोगी रहेंगे, इस विचारसे इन्द्रादि व्याकुल हैं। इन्द्र कामासक्त है ही।

टिप्पणी—३ ***'सुर स्वारथी मलीन मन कीन्ह कुमंत्र कुठाटु·····'*** इति। भय बाघ-सिंह आदिका, भ्रम कि कहाँ हैं, कहाँ अयोध्या, कहाँ हम आ गये। भ्रम=मिथ्या बुद्धि, भ्रान्ति। यथा—**'भ्रान्तिर्मिथ्या मतिभ्रम:'** (इत्यमर:)। कुछ-का-कुछ समझना भ्रम है, यथा—***'बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परस्पर मिथ्याबादी। निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं·····॥'*** इत्यादिमें भ्रमका स्वरूप पूर्णरूपेण दिखाया है। अरति—लड़के-बालोंमें चित्त गया, उनकी सुध आनेसे दु:ख हुआ, यहाँसे प्रीति हटी। उच्चाट कि अब रामसे कौन काम, अब तो वे वनवास ही करेंगे, हमें जानेको होगा ही तो अतिशीघ्रम् अतिशुभम्। उच्चाटका स्वरूप आगे दोहा ३०२ में पूर्णरूपेण कहा गया है। भ्रम, भय, अरति—ये सब उच्चाटके अङ्ग हैं, मुख्य उच्चाट ही है, यथा—***'प्रथम कुमत करि कपटु सँकेला। सो उचाट सबके सिर मेला॥'*** (३०२। ३) 'मलीन मन' कहा क्योंकि सरस्वतीका उपदेश मनमें न आया।

बैजनाथजी—उच्चाटन-विद्वेषण-मोहनादि मन्त्र-विधिसे कुठाट रचा। अर्थात् मोहनमन्त्रसे गुग्गुल, घृत पान, सुपारी, शक्कर आदिसे हवनकर उसकी राख यहाँ डालनेसे सबको भ्रम हुआ, जिससे सत्यपदार्थके त्याग और मिथ्या धनधामादिमें मति गयी। विद्वेषण-मन्त्रसे काक-उलूकके परसे तर्पण; वा सिंह या हाथीके

बालसे हवन कर राख डालनेसे 'अरति' हुई, प्रीति न रह गयी। पुनः उच्चाटन-मन्त्रविधिसे अर्क-पलाश-काठमें मशान-क्षार-राई-हवन करके डालनेसे सबके मनमें उच्चाट हो गया।

नोट—३ *'करि कुचाल सोचत सुरराजू……'* इति। अर्थात् सरस्वतीके वचनका स्मरण हो आया कि भरतपर किसीकी माया नहीं लग सकती, अतएव कुचालका ठाट कर चुकनेपर सोच हुआ कि औरोंपर माया डालनेसे व्यर्थ ही हुआ, कामका बनाना-बिगाड़ना तो भरतजीके ही अधिकारमें है।

ऐसा जान पड़ता है कि अभी माया-जाल रचकर ठीक कर लिया है, पर यह सोचकर कि मुख्य भरत हैं उनपर माया चलेगी नहीं इससे औरोंपर क्या डालें, उन्होंने अभी वह माया डाली नहीं—यह बात *'प्रथम कुमत करि कपट सकेला।'* (३०२। ३) से सिद्ध होती है।

पं० इन्द्रको चिन्ता हुई। क्योंकि (१) जो दूसरेका बुरा मनसे चिन्तन करता है उसे भी मानसी व्यथा होती है। वा, (२) इसकी मायासे और सब मोहित हुए पर भरतादिक विमल रहे। इसीसे चिन्ता हुई; क्योंकि रघुनाथजी जिनके वश हैं, जिनका कहा मानेंगे वे तो सावधान ही हैं; तब मेरा यत्न सब व्यर्थ ही हुआ वा, (३) जो किसीके साथ शत्रुता करे और शत्रु-घातसे बच रहे तो घातकको प्रतिघातकी शङ्का होती है, वैसे ही मघवाको भय हुआ कि मेरी कुचालसे ये बच रहे, न जाने अब क्या करें, अब तो सब इनके ही अधीन है।

भरत-जनक-संवाद समाप्त हुआ।

दरबार-आम

जामदारजी—इस दरबारमें प्रथम भरतजीका और बादमें रामजीका भाषण मुख्य है। ये दोनों भाषण सारी रामायणमें सर्वोच्चकोटिके हुए हैं। रामजीद्वारा इतना लम्बा-चौड़ा और खुले दिलका भाषण सारी रामायणमें वह एक ही है। ये दोनों भाषण दीखनेमें बिलकुल स्वतन्त्रसे मालूम होते हैं; परंतु विचार करनेसे ऐसा विदित होता है कि इन दोनोंमें सामान्य विशेषता एक ही है। यह सामान्य विशेषता परस्पर कृतज्ञता है। ये भाषण इतने उत्कृष्ट हैं कि इनका तारतम्य भाव देखनेवाला स्वयं ही भ्रमीभूत होता है। हम इतना ही कह सकेंगे कि भरतजीका भाषण सेवाधर्मका एक अप्रतिम नमूना है और रामजीका भाषण स्वामी-धर्मका अनुपम उदाहरण है। दोनों भाषणोंमें सामान्य विशेषता एक ही होनेसे प्रेम-प्रवाह दोनोंमें भी एक समान ही नजर आता है, और लोकशिक्षाकी दृष्टिसे दोनोंकी योग्यता भी बिलकुल समान है। स्वामी-सेवकके हृदयोंका जिसमें एकीकरण हुआ है। ऐसे आदर्श भूत-प्रसङ्ग गोसाईंजीकी रामायणमें विशेषतः अयोध्याकाण्ड और सुन्दरकाण्डमें ही दीख पड़ेंगे। परंतु ऐसे दृढ़ एकीकरणका प्रसङ्ग, हमारे मतसे यही है। इसी कारणसे तो रामजीने इस प्रसङ्गपर *'सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिब होइ'* ऐसी मुहर लगा दी है। इन दो भाषणोंकी योग्यता गुसाईंजीके ही शब्दोंमें देखिये। भरतजी—*'भरत सुभाउ न सुगम निगमहू'* रामजी—*'सिथिल समाज सनेह समाधी'।*

चित्रकूटका दूसरा दरबार

गये जनकु रघुनाथ समीपा। सनमाने सब रबिकुल दीपा॥ २॥
समय समाज धरम अबिरोधा। बोले तब रघुबंस पुरोधा॥ ३॥
जनक भरत संबादु सुनाई। भरत कहाउति कही सुहाई॥ ४॥
तात राम जस आयसु देहू। सो सबु करइ मोर मत एहू॥ ५॥
सुनि रघुनाथ जोरि जुग पानी। बोले सत्य सरल मृदु बानी॥ ६॥

शब्दार्थ—**अबिरोधा**=विरोधरहित, अनुकूल, विहित। 'पुरोधा' (सं० पुरोध, पुरोधस्)=पुरोहित। वह प्रधान

याजक जो राजा या और किसी यजमानके यहाँ अगुआ बनकर यज्ञादि श्रौतकर्म, गृहकर्म और संस्कार तथा शान्ति आदि अनुष्ठान करे-कराये। वैदिककालमें पुरोहितका बड़ा अधिकार था, वह मन्त्रियोंमें भी गिना जाता था। '**कहाउति**'=कहावत, कहतूत, कही हुई बात।

अर्थ—श्रीजनक महाराज श्रीरघुनाथजीके पास गये, सूर्यकुलके दीपक श्रीरघुनाथजीने सबका सम्मान किया॥ २॥ तब रघुकुलके पुरोहित श्रीवसिष्ठजी समय, समाज और धर्मके अनुकूल बोले॥ ३॥ उन्होंने सर्वप्रथम श्रीजनकजी और श्रीभरतका संवाद सुनाया। तदनन्तर भरतजीकी सुन्दर कही हुई बात सुनायी॥ ४॥ (फिर कहा) हे तात! (प्यारे) राम! मेरी सम्मति तो यह है कि जैसी तुम आज्ञा दो वैसा ही सब करें॥ ५॥ सुनकर रघुनाथजी दोनों हाथ जोड़कर सत्य, सरल और कोमल वाणी बोले॥ ६॥

नोट—१ *'गये जनकु रघुनाथ समीपा'* इति। *'गये'* बहुवचन सम्मानार्थ दिया गया है। पुनः, इससे सूचित किया गया कि जनक महाराज अकेले नहीं गये, सब समाजसहित (जो पूर्व कह आये) गये, आगेका 'सब' शब्द भी 'जनक आदि' का वाचक है। पुनः 'गये' शब्द यहाँ देकर पूर्व प्रसंगसे मिलाया जो २९४ (४) पर छोड़ा था। पूर्व प्रसंग *'भूप भरत मुनि सहित समाजू। गे जहँ बिबुधकुमुद द्विजराजू॥'* पर छोड़ा था, बीचमें सब लोगों और देवताओंका सोच वर्णन किया। अब फिर वहींसे प्रसंग उठाया। वहाँ *'गे जहँ बिबुध.....'* और यहाँ *'गये रघुनाथ समीपा'*; वहाँ *'भूप भरत मुनि सहित समाजू'* यहाँ 'जनकु'। 'भूप' प्रधान हैं वे ही सबको ले चले, इससे वहाँ आदिमें इनको कहा और यहाँ आदिका 'जनकु' शब्द देकर इनके आगे *'भरत मुनि.....'* आदि भी साथ सूचित कर दिया।

टिप्पणी—१ पु० रा० कु० यहाँ चलनेमें श्रीजनकजी प्रधान हैं। रामजी मुनिके पास गये, मुनि जनकजीके पास, जनक समाज और गुरुसहित भरतजीके पास आये। यहाँसे बराबर वे ही प्रधान हैं, गुरु नहीं। उन्होंने आकर भरतजीसे पूछा कि *'कहिअ जो आयसु देहु'*। पर जब भरतजीने अपनी पराधीनता दिखायी और उन्हीं सबपर छोड़ा तब वे ही सबको लेकर यहाँ आये।

टिप्पणी—२ *'सनमाने सब रबिकुल दीपा'* इति। (क) यहाँ सम्मानमें *'रबिकुल दीपा'* विशेषण दिया और पूर्व जब भरतजीके यहाँसे चले तब *'बिबुधकुमुद द्विजराजू'* कहा था। देवताओंके लिये चन्द्ररूप और रघुकुलके लिये दीपरूप कहकर जनाया कि देवताओंकी तरफ अधिक प्रकाश कर रहे हैं, उनकी रक्षामें उद्यत हैं; चलकर उनको पालेंगे, प्रकाशसे उनको प्रफुल्लित करेंगे। (ख) कौसल्याजीने श्रीसुनयनाजीसे कहा था कि राजा कहा करते थे कि *'जानहु सदा भरत कुल दीपा'*। यहाँ कविने श्रीरामजीको वही विशेषण देकर यह जनाया कि भरत और राम दोनों एक हैं, एक-से हैं। भरतजी रामजीके बदले १४ वर्ष राज्यका कार-बार करेंगे। (ग) 'सम्मान' यह कि आगे जाकर लिवा लाये, समयानुकूल हाथसे आसन ला-लाकर दिये और बैठनेकी प्रार्थना की। (घ) जनकजीका सम्मान रामजीको करना पड़ा; क्योंकि यहाँ वे ही सबसे बड़े हैं; उनके सम्मानके योग्य दशरथजी ही थे, वे होते तो वे ही करते, अब उनकी जगह रघुकुलदीपक रामजी ही हैं।

टिप्पणी—३ *'सभय समाज धरम अबिरोधा.......'* इति। (क) समयसे विरोध न पड़े, सब समाजका सम्मत हो, पिताके वचनसे भी विरोध न पड़े, ऐसे वचन कहे। [शोक आदिका समय है, उसके अनुसार अल्प वचन, बुद्धिमानोंके समाजके अनुसार विचारकर वचन बोले। (पं०)]

टिप्पणी—४ यहाँ आनेमें जनकजी प्रधान थे, पर बोलनेमें वसिष्ठजी प्रधान हुए। कारण यह कि दोनों बार रामजीने गुरुजीहीसे कहा कि सबको कष्ट है......। इस बार भी गुरुजीसे ही कहा, तब उन्होंने यह कहा था कि *'आपु आश्रमहि धारिय पाऊ'* अर्थात् आप चलिये मैं सब ठीक करके आश्रमपर आता हूँ। अतएव उन वचनोंके अनुसार गुरुका ही बोलना यहाँ उचित था, दूसरेका नहीं। दूसरे वे ही सबमें यहाँ श्रेष्ठ हैं, बड़े हैं।

टिप्पणी—५ *'जनक-भरत संबादु सुनाई।......'* इति। जनकजीने संवाद भरतजीसे प्रारम्भ किया, अतः

'जनक' को प्रथम रखा। *'तात भरत कह तेरहुतिराऊ।'* (२९२। ८) से *'राखि रामरुख'*"""॥ २९३॥ तक जो कुछ कहा गया वह सब कहा। *'कहाउति'* को *'सुहाई'* विशेषण दिया; क्योंकि वही सबकी कुञ्जी है, सेवक-स्वामि-धर्मका उसमें निरूपण है और वे *'सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथ अमित अति आखर थोरे॥'* इन विषयोंसे युक्त हैं।

टिप्पणी—६ *'तात राम जस आयसु देहू'*""' ये वचन जनकजी, भरतजी और गुरु तीनोंके सिद्धान्त हैं। सबके कथनका यही सार समझकर गुरुने ऐसा कहा। (ख) गुरुके 'आयसु देहू' के साथ 'राम' शब्द है अर्थात् गुरुने ऐश्वर्यदेशमें उनसे आज्ञा देनेको कहा और रामजीने माधुर्यदेशमें उत्तर दिया, इससे 'रघुनाथ' पद दिया।

वि० त्रि०—*'तात राम""एहू।'* इति। जिन वसिष्ठजीने रामजीसे कहा था कि *'भरत सनेह बिचार न राखा'* वही कह रहे हैं कि 'रामजी! जैसा तुम्हारा आदेश हो वैसा ही सब करें।' प्रश्न उठता है कि क्या वसिष्ठजीने भरतके स्नेहका विचार किया? निविष्ट चित्तसे विचार करनेपर मालूम होता है कि गुरुजी भरतजीकी ही वकालत कर रहे हैं। 'रामजी आज्ञा दें और उसीके अनुसार सब लोग कार्य करें' इस बातका अर्थ ही रामजीसे राज्य स्वीकार कराना है। जिसकी आज्ञा सबके ऊपर चले वही राजा है। रामजी पिताका वचन पालन करते हुए वनमें ही रहें पर हुकुम उनका चले। ऐसी परिस्थितिमें इतना ही हो सकता है। उसीके लिये गुरुजी अपनी राय दे रहे हैं।

बिद्यमान आपुनि मिथिलेसू। मोर कहब सब भाँति भदेसू॥ ७॥
राउर राय रजायसु होई। राउरि सपथ सही सिर सोई॥ ८॥
दो०—रामसपथ सुनि मुनि जनकु सकुचे सभा समेत।
सकल बिलोकत भरत मुखु बनइ न ऊतरु देत॥ २९६॥

शब्दार्थ—**'बिद्यमान'**=उपस्थित, विराजमान, वर्तमान वा मौजूद रहते हुए; यथा—*'बिद्यमान रघुकुलमनि जानी।'* (१। २५३। २) **'भदेसू'**=भद्दा, यथा—*'भनित भदेसु बस्तु भलि बरनी'*। **'सही'**=प्रामाणिक, ठीक, यथार्थ। =मान्य, तसलीम।= सत्य ही, सचमुच।—यहाँ तीनों अर्थ लगते हैं। **'सिर सोई'**=वह सिरपर है, शिरोधार्य है, हमारे मस्तकपर है, मेरे लिये मान्य और पूज्य है, स्वीकार है। **'बिलोकत भरत मुखु'**=भरतके मुखकी ओर देख रहे हैं। 'मुँह देखना' मुहावरा है=विवश होकर आशाकी पूर्णताके विचारसे देखना।

अर्थ—आपके और मिथिलेशजीके उपस्थित रहते हुए मेरा कहना (आज्ञा देना) सब प्रकारसे अनुचित है॥ ७॥ आपकी और राजाकी जो आज्ञा होगी—मैं आपकी शपथ करके कहता हूँ वह सत्य ही सबको शिरोधार्य होगी॥ ८॥ श्रीरामजीकी शपथ सुनकर सभासमेत मुनि और जनकजी सकुचा गये। उत्तर देते नहीं बनता, सभी भरतजीका मुँह ताक रहे हैं॥ २९६॥

टिप्पणी—१ *'सब भाँति भदेसू'*—छोटा बड़ेको आज्ञा दे यह अयोग्य है। *'सब भाँति'* से यहाँ वह सब भाव गृहीत हैं जो भरतजीने कहे हैं, यथा—*'प्रभु प्रिय पूज्य पिता सम आपू। कुलगुरु सम हित माय न बापू॥'*""' (२९३। २—५)

टिप्पणी—२ *'राउर राय रजायसु होई'*""' इति। (क)—गुरुने कहा था *'तात राम जस आयसु देहू'* उसका उत्तर है कि मेरा कुछ भी कहना सब भाँति भद्दापन है। तात्पर्य यह कि जब मैं (जिसे आप आज्ञा देनेको कहते हैं) आपकी आज्ञा न माननेवाला होऊँ तब आपका कहना उचित होता। पर जब आपकी आज्ञा माननेको मैं भी तैयार हूँ तब मेरा आयसु देना सर्वथा अनुचित है। (ख) जो आपकी और राजाकी आज्ञा हो वह मैं आदरपूर्वक करूँगा। (ग) यहाँ गुरु और राजा दोनोंको कहा। दोनोंपर धर्म-अधर्मका भार छोड़ दिया। 'राय' शब्द यहाँ दिया ('मिथिलेश' आदि नहीं, जैसा अन्य स्थलोंमें प्रयुक्त किया है) जिसमें पिताका भी ग्रहण हो जाय। भाव यह कि आप पितासे भी श्रेष्ठ हैं—*'कुलगुर सम हित माय न बापू'* और